अनुसंधान की प्रक्रिया

अनुसंधान की प्रक्रिया

सम्पादक

डा० सावित्री सिन्हा डा० विजयेन्द्र स्नातक

हिन्दी अनुसधान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
के निमित्त

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

द्वारा प्रकाशित

हमारी योजना

'अनुसन्धान की प्रक्रिया' हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रथमाला का बीसवा ग्रन्थ है। 'हिन्दी अनुसन्धान परिषद्,' हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय की सस्था है, जिसकी स्थापना अक्तूबर सन् १९५२ मे हुई थी। परिषद् के मुख्यत दो उद्देश्य हैं हिन्दी-वाङ्मय-विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अब तक परिषद् की ओर से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रन्थ तीन प्रकार के है—एक तो वे जिनमे प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो का हिन्दी-रूपान्तर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओ के साथ प्रस्तुत किया गया है, दूसरे वे जिनपर दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से पी एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई है। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रथ हैं—(१) हिन्दी काव्यालकारसूत्र, (२) हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, (३) अरस्तू का काव्यशास्त्र, (४) हिन्दी काव्यादर्श, (५) अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग (हिन्दी अनुवाद), (६) पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, तथा (७) (होरेस-कृत) काव्यकला। द्वितीय वर्ग के अन्तगत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—(१) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, (२) हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, (३) सूफीमत और हिन्दी साहित्य, (४) अपभ्रश साहित्य, (५) राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धात और साहित्य, (६) सूर की काव्यकला, (७) हिन्दी मे भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा, (८) मैथिलीशरण गुप्त कवि और भारतीय सस्कृति के आख्याता, (९) हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य, तथा (१०) मतिराम कवि और आचार्य। तीसरे वर्ग का अनुसन्धान के साथ—उसके सिद्धान्त और व्यवहार दोनो पक्षो के साथ—प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। इस माला का पहला ग्रन्थ है 'अनुसन्धान का स्वरूप' जिसमे अनुसधान के स्वरूप और विषय क्षेत्र आदि का अधिकारी विद्वानो द्वारा सैद्धातिक विवेचन किया गया है। दूसरा ग्रथ 'हिन्दी के स्वीकृत शोध-प्रबन्ध' अनुसन्धान के व्यवहार-पक्ष को लेकर लिखा गया है जिसका मूल उद्देश्य हिन्दी के अद्यावधि स्वीकृत शोध-प्रबन्धो का कालक्रमानुसार

भाषणानुक्रम

सम्पादकीय

आज से लगभग आठ वष पूव दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के तत्वावधान मे 'हिन्दी अनुसधान परिषद्' की स्थापना हुई थी। परिषद् ने प्रारम्भ से ही अन्य कार्यो के साथ अपने उद्देश्यो मे अनुसधान की प्रविधि और प्रक्रिया के विवेचन को प्रमुख रूप से समाविष्ट किया हुआ है। इस दिशा मे परिषद् का प्रथम प्रयास 'अनुसधान का स्वरूप' प्रकाशन था। इस पुस्तक म अनुसधान से साक्षात् सम्बन्ध रखने वाले अनुभवी विद्वानो के सारगर्भित लेख सकलित है जिनमे अनुसधान के सैद्धान्तिक स्वरूप का विभिन्न दृष्टिविन्दुओ से उद्घाटन हुआ है। हमे प्रसन्नता हे कि अपने क्षेत्र मे सवप्रथम प्रयास होने पर भी नये पुराने सभी वग के अनुसधाताओ ने इस पुस्तक से लाभ उठाया और पुस्तक को व्यापक सम्मान प्राप्त हुआ। वस्तुत इस पुस्तक के माध्यम से हिन्दी भाषा और साहित्य के क्षेत्र मे अनुसधान का काय करने वाले अनुसधाताओ तथा निर्देशको का परिषद् के साथ परोक्ष रूप से सम्पक स्थापित हो गया। 'अनुसधान का स्वरूप' प्रकाशित होने के बाद परिषद् ने इस प्रश्न पर और अधिक गभीरता के साथ विचार किया तथा अनुसधित्सुओ की कठिनाइयो को दृष्टि मे रखकर उनके समाधान के लिए व्यापक स्तर पर एक अनुसधान-गोष्ठी के आयोजन का निश्चय किया। उसी निश्चय के अनुसार मई सन् १९५९ मे हिन्दी अनुसधान परिषद् के तत्वावधान मे अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-अनुसधान-गोष्ठी का द्वादश-दिवसीय अधिवेशन दिल्ली मे सम्पन्न हुआ।

पिछले दस पन्द्रह वर्षो से हिन्दी-अनुसधान क्षेत्र मे जैसी उत्साह-वधक जागरूकता दृष्टिगत हो रही है वैसी हिन्दी भाषा और साहित्य के किसी अन्य क्षेत्र मे दिखाई नही देती। परिमाण एव गुणवत्ता दोनो की दृष्टियो से शोध-ग्रथो की सख्या आज के प्रकाशित-अप्रकाशित साहित्य मे अपना विशेष महत्व रखती है। भारतवष के लगभग बीस विश्वविद्यालयो मे सम्प्रति हिन्दी-अनुसधान का काय बडी द्रुतगति से हो रहा है, और उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्धो की सख्या प्रतिवष चालीस-पचास के बीच होती है। अनुसधान-

विषयक इस सामूहिक चेतना से जहाँ एक ओर हिन्दी भाषा और साहित्य की समृद्धि हुई है, वहाँ अनुसध न के क्षेत्र मे कतिपय गभीर, जटिल एव विचारणीय समस्याएँ भी उत्पन्न हो गई हैं। इन समस्याओ को स्थूलत दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है। पहले भाग की समस्याओ का प्रत्यक्ष सम्बन्ध अनुसधाताओ के साथ है। अनुसधान प्रारम्भ करने से पूव विषय-निर्वाचन और अनुसधान प्रारम्भ करने पर अनुसधान की प्रविधि एव प्रक्रिया का परिज्ञान, सामग्री-सकलन के लिए विविध स्रोतो का दोहन, ऐतिहासिक, सामाजिक एव साहित्यिक परिस्थितियो का अनुशीलन, प्राचीन ग्रथो का पाठालोचन अनुसधान की विभिन्न सरणियो का अध्ययन प्रत्येक अनुसधाता के लिए अनिवाय होता है। जिज्ञासा या विचिकित्सा मात्र से सत्यानुसधान सभव नही है। अत प्रत्येक अनुसधित्सु के सामने सामान्य प्रक्रिया एव प्रविधि के बोध का प्रश्न प्रारम्भ मे ही उपस्थित होता है। यह एक प्रारम्भिक कठिनाई है जिसका समुचित समाधान हुए बिना कोई भी अनुसधाता अपने उद्देश्य मे पूर्णकाम नही हो सकता।

दूसरे भाग की समस्याओ का सम्ब ध विश्वविद्यालयो तथा निर्देशको से है। विभिन्न विश्वविद्यालयो के तत्वावधान मे होने वाले शोधकाय मे सामजस्य स्थापित करना आवश्यक होते हुए भी के द्रीय शोध प्रतिष्ठान के अभाव मे अभी तक सम्भव नही हुआ है। साथ ही हिन्दी अनुसधान की व्यवस्थित योजना भी अभी तक तैयार नही हो सकी है। ये समस्याएँ सावदशिक महत्व की हैं। इनके समाधान के लिए पर्याप्त समय और साधन अपेक्षित है। अत दिल्ली विश्वविद्यालय की 'हिन्दी अनुसधान परिषद्' ने अनुसधाता-वग की समस्याओ तक ही अपने कार्य को सीमित रखकर उक्त अनुसधान गोष्ठी का आयोजन किया।

गोष्ठी की रूपरेखा तैयार करने के बाद यह निर्णय किया गया कि इसे औपचारिक रूप देने के लिए इसके सदस्य विधिवत् नामाकित किए जाएँ, इसी प्रकार प्रेक्षक-सदस्य भी नामाकित होकर ही गोष्ठियो मे सम्मिलित हो और गोष्ठी का समस्त कायक्रम समाप्त होने के बाद जिन सदस्यो ने नियमानुसार भाषणो तथा परिसवादो मे उपस्थित रहकर लाभ उठाया है उन्हे प्रमाणपत्र भी प्रदान किये जाये।

गोष्ठी के भाषणो के लिए विषय-निर्वाचन करते समय इस तथ्य पर विशेष ध्यान रखा गया कि उन विषयो को प्राथमिकता दी जाय जिनकी अनुसंधित्सुओ के मार्ग दर्शन के लिए अपेक्षाकृत अधिक आवश्यकता है। फलत प्रारम्भिक दो भाषण 'हिन्दी अनुसधान की प्रगति' के विवेचन विश्लेषण के

निमित्त कराये गये। ये भाषण अब तक के समस्त शोधकार्य का आकलन प्रस्तुत करने के साथ अनुसधित्सुओ को पुनरावृत्ति से बचकर नवीन अनुसधेय विषयो की ओर इगित करने वाले हैं। इन भाषणो मे हिन्दी भाषा और साहित्य से सम्बद्ध प्राचीन, मध्ययुगीन तथा आधुनिक अनुसधान का समीक्षात्मक सर्वेक्षण प्रस्तुत किया गया है।

'साहित्यिक अनुसधान के प्रकार' शीषक भाषण मे वस्तु, भाव, विचार, कला तथा भाषा भेद से विविध प्रकार के अनुसधानो पर प्रकाश डाला गया है। पाठ और इतिहास के भेद भी इस भाषण मे स्पश किये गये है, किन्तु, ये दोनो स्वतत्र-रूप से भी भाषणो के विषय चुने गये थे अत इन पर विस्तार से उन्ही भाषणो मे विचार हुआ है।

'विषय-निर्वाचन' की समस्या प्राय प्रत्येक नये अनुसधाता के सामने गभीर रूप मे आती है। विषयो की विविधता एव विपुलता को देखते हुए अनुसधित्सु को उनमे से अपनी अभिरुचि, योग्यता और क्षमता के अनुरूप विषय-चयन करना सुगम नही रहा है। अत इस विषय पर दो भाषणो का प्रबध किया गया। इन भाषणो मे विद्वान् वक्ताओ ने विषय-निर्वाचन के सभी पक्षो पर सतुलित विचार व्यक्त कर अनुसधित्सुओ का उचित पथ प्रदशन किया है।

'अनुसधान और आलोचना का भेद और पारस्परिक सम्बन्ध सामान्य अनुसधाता के लिए कठिन पहेली है। किसी कृति का बहिरग परीक्षण अथवा तथ्यान्वेषण ही अनुसधान की सीमा नही है, आलोचनात्मक विश्लेषण भी अनुसधान है और वास्तव मे यही उसका प्राण-तत्व है। ज्ञान का विस्तार करने मे आलोचनात्मक विश्लेषण का योग किसी मात्रा मे न्यून नही समझना चाहिए। आलोचनात्मक प्रतिभा के बिना उत्कृष्ट अनुसधान सभव नही है अत शोधार्थी को अनुसधान मे प्रवृत्त होने पर इस तथ्य को हृदयगम कर लेना चाहिए। इस भाषण मे तथ्यपरक तथा तत्वपरक शोध का साम्य वैषम्य प्रदर्शित करते हुए दोनो की अनिवायता पर शास्त्रीय पद्धति से गभीर विचार व्यक्त किये गये हैं।

'शोध-सामग्री' शीर्षक भाषण की उपादेयता भी स्वयसिद्ध है। सामग्री-सकलन की समस्या प्रत्येक अनुसधाता के सामने आती है। जब तक अनुसधाता को स्रोतो का सम्यक् ज्ञान न होगा, वह सामग्री जुटाने मे समथ नही हो सकता। जिस प्रकार ज्ञान के स्रोत अनन्त है उसी प्रकार अनुसधान मे प्रवृत्त जिज्ञासु शोधार्थी के सामने सामग्री सकलन के स्रोतो की भी इयत्ता नही है। प्राचीन हस्तलेख, शिलालेख, ध्वसावशेष, पुराण, इतिहास, अनुश्रुति, किम्वदन्ती

समाज-विज्ञान, भाषा-विज्ञान, नृतत्व-विज्ञान, लोक-साहित्य, लोक-भाषा, रीति-रिवाज, सामाजिक-रूढि, काव्य रूढि आदि विविध स्रोतो के दोहन और अवगाहन द्वारा शोध-सामग्री का सकलन करना होता है। इस भाषण का उद्देश्य अनुसधाताओ को उनसे परिचित कराना है ताकि वे शोध कार्य मे प्रवृत्त होने पर इन सभी निकायो पर दृष्टि रखकर कार्य-तत्पर हो।

'पाठानुसधान' अनुसधान क्षेत्र की एक वैज्ञानिक एव अपेक्षाकृत दुरूह प्रक्रिया है। हिन्दी मे पाठानुसधान का अभी श्रीगणेश ही समझना चाहिए, अत ऐसे विषय पर अनुसधाताओ का पथ प्रदर्शन अत्यन्त आवश्यक है। हस्तलेख अथवा मुद्रित रूप मे प्राप्त सामग्री की बहिरग एव अतरग परीक्षा करने की पद्धति पाठानुसधान का प्राण है। विविध पाठो मे सम्बन्ध-निर्धारण द्वारा सगति स्थापित कर अन्तिम पाठ-चयन तथा खडित पाठ मे सुधार एव अपने उपलब्ध परिणामो की सत्यता ही पाठानुसधान का उद्देश्य है। इस भाषण द्वारा अनुसधाताओ के समक्ष मूलभूत आवश्यकता को स्पष्ट किया गया है।

'भाषावैज्ञानिक अनुसधान' का काय हिन्दी मे सभवत साहित्यिक अनुसधान से पहले प्रारभ हुआ था। विदेशो मे भी अनुसधान के क्षेत्र मे भाषा-विज्ञान की शोध अपक्षाकृत पुरानी है। भारतीय भाषाओ का ग्रियर्सन, यूल ब्लाख, टर्नर, टैसेटरी आदि विदेशी विद्वानो ने वैज्ञानिक शैली से अध्ययन प्रस्तुत कर इस दिशा मे सराहनीय काय किया है। हिन्दी भाषा के क्षेत्र मे बोलियो अथवा जनपदीय भाषाओ के अध्ययन की परम्परा चल पडी है और अनेक शोधार्थी इस ओर प्रवृत्त हैं। अत यह उचित समझा गया कि इस विषय पर भी अधिकारी विद्वानो के भाषण कराये जाये। इस विषय के सविस्तर ज्ञान के लिए 'भारत मे भाषावैज्ञानिक अध्ययन' शीर्षक एक लेख भी जोड दिया गया है। इस लेख से भाषावैज्ञानिक अनुसधान करने वालो को अब तक हुए अध्ययन की जानकारी प्राप्त हो सकेगी।

साहित्यिक अनुसधान के क्षेत्र मे इतिहास का योगदान असदिग्ध है। हिन्दी का समस्त साहित्य विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियो मे रचा गया है, अत पृष्ठ-भूमि के रूप मे ही नही उसके विकास और प्रसार के लिए भी इतिहास की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यथाथ मे इतिहास का काय मानव के समस्त अनुभव एव उसकी समस्त उद्भावनाओ की जाच करना है। यदि साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है तो उसे इतिहास-रूपी दर्पण मे ही भली भाँति देखा जा सकता है। अतएव साहित्य के अध्ययन और अनुसधान मे उसका विधिवत् उपयोग कैसे किया जाय यह हर अनुसधाता के लिए बहुत महत्व रखता है। इसी दृष्टि से 'इतिहास और

साहित्य' विषय पर एक भाषण का प्रबध किया गया।

अतिम भाषण 'अनुसधान की प्रक्रिया और प्रविधि' जो इस भाषणमाला का अत्यन्त महत्वपूर्ण भाषण है—शोध के क्षेत्र मे पदार्पण करने वाले अनुसधित्सुओ के लिए अनेक दृष्टियो से उपादेय है। शोध प्रारम्भ करने से लेकर शोध-कार्य समाप्त करने तक अनुसधाता को किस प्रक्रिया का पालन करते हुए कार्य करना चाहिए, यही इस भाषण का उद्देश्य है। यह ठीक है कि 'अनुसधान' के क्षेत्र मे प्रक्रिया केवल साधन मात्र है, साध्य नही, किन्तु इस साधन की अवहेलना करके किसी शोधार्थी को सच्ची सिद्धि प्राप्त नही हो सकती। अनुसधाता सत्यान्वेषी है, किन्तु हिरण्यमय पात्र से सत्य का मुख पिहित होने से सत्य को पा लेना सहज नही है। मिथ्याचार, भ्रान्ति, असगति आदि से कटकाकीर्ण इस दुर्गम पथ पर चलते समय अनुभवी निर्देशक का पथ-प्रदर्शन सुलभ हो गया तो कठिनाइयाँ कुछ कम हो जाती है—अन्यथा उसके लिए दुर्द्धर्ष अध्यवसाय एव अध्ययन द्वारा भी गन्तव्य सत्य तक पहुँचना कठिन होता है। कार्यारम्भ से कार्य-समाप्ति तक प्रक्रिया एव प्रविधि का आश्रय लेकर चलने वाला शोधार्थी ही निर्दिष्ट पथ से निर्दिष्ट काल मे निर्दिष्ट ध्येय को प्राप्त करता है। इस भाषण मे प्रक्रिया के छोटे-बडे सभी अवयवो का उद्घाटन हुआ है। हमारा विश्वास है कि इस भाषण मे व्यक्त पद्धति के अनुगमन से अनुसधाता अनेक भ्रान्तियो और कठिनाइयो से बच सकता है।

गोष्ठी के कार्यक्रम को सफल बनाने मे हमे भारतवर्ष के विभिन्न विश्वविद्यालयो के उपकुलपतियो, विभागाध्यक्षो, प्राध्यापको तथा अनुसधाताओ का सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ। हम इस सहयोग के लिए सबके प्रति हार्दिक कृतज्ञता और आभार प्रकट करते है। विद्वान् वक्ताओ के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करना हमारा पुनीत कर्त्तव्य है। ज्येष्ठ मास की प्रचड गर्मी मे सुदूरवर्ती स्थानो से लम्बी यात्रा करके दिल्ली आना ही कम कष्टप्रद नही था, किन्तु यहाँ आकर अपने विद्वत्तापूर्ण अभिभाषणो से बौद्धिक श्रम करना तो और भी अधिक कठिन कार्य था। माननीय वक्ताओ ने अपने भाषणो के अतिरिक्त गोष्ठियो की अध्यक्षता करके भी अनुसधान परिषद् को उपकृत किया, जिसके लिए हम अतिरिक्त आभार व्यक्त करना चाहते है।

अन्त मे, विश्वविद्यालय-अनुदान आयोग के अधिकारियो तथा दिल्ली-विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० वी० के० आर० वी० राव के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करना भी हमारा धम है। आयोग के अनुदान से तथा डा० राव के

प्रेरणापूर्ण परामर्शों से ही यह अनुष्ठान विधिवत् पूर्ण हो सका। हमारे जिन बन्धुओ ने विभिन्न विश्वविद्यालयो से प्रतिनिधि भिजवाने मे हमे सहयोग दिया तथा जिन सहयोगियो ने आवास, आतिथ्य, परिवहन आदि की व्यवस्था मे हाथ बटाया उनके हम हृदय से आभारी हैं।

—सम्पादक

डा० हरवंशलाल शर्मा

हिन्दी अनुसंधान की प्रगति—(१)

[प्राचीन और मध्यकालीन हिन्दी साहित्य से सम्बद्ध]

मेरा विषय है 'हिन्दी अनुसन्धान की प्रगति'—(प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य से सम्बद्ध)। विषय बडा व्यापक और महत्वपूर्ण है। एक प्रकार से हिन्दी अनुसधान-कार्य के एक बडे भाग का इतिहास और विश्लेषण प्रस्तुत करना है। साधारण रूप से हिन्दी साहित्य का इतिहास तीन कालो मे विभाजित किया गया है—१—प्राचीन, २—मध्य और ३—आधुनिक। मध्यकाल दो भागो मे विभक्त है—भक्तिकाल तथा रीतिकाल। परन्तु यह विभाजन कई दृष्टियो से अपूर्ण और अवैज्ञानिक है। विभाजन के सम्बन्ध मे वाद-विवाद प्रासगिक नही है। प्रस्तुत विषय अनुसन्धान की प्रगति पर विचार करना है। अनुसन्धान की सीमाएँ इतिहास की सीमाओ को उस रूप मे स्वीकार भी नही करती हैं जिस रूप मे इतिहास को प्रस्तुत करने की परम्परा है। दूसरे साहित्य के इतिहास की सीमाओ मे स्थिरता और शृंखलाबद्धता की कल्पना भी व्यथ है। फिर भी विवेचन-सौकर्य और विषय-सबद्धता के लिए हमे इतिहास की सीमाओ का आश्रय लेना ही पडेगा। हिन्दी अनुसन्धान का क्षेत्र साहित्य की निर्धारित सीमाओ को लाँघ चुका है और आगे और भी अधिक सभावना है। अनुसधान के क्षेत्र मे प्राचीनकाल का अभिप्राय केवल आदिकाल स० १०५० से १३७५ वि० नही है। भाषिक शोध की दृष्टि से ही हिन्दी का प्राचीनकाल चौथी पाँचवी शताब्दी तक पहुँच जाता है और यदि ध्वनि, अर्थ-विचार, रूप-विकास आदि पर विचार करे तो उसकी सीमाएँ वैदिककाल तक बद्धमूल प्रतीत होती है। शुद्ध साहित्यिक और सास्कृतिक दृष्टि से भी अनुसन्धान के क्षेत्र को

किन्ही निश्चित सीमाग्रो मे नही बॉधा जा सकता। बात यह है कि भाषा ग्रौर साहित्य या वाड्मय एक ग्रविच्छिन्न ग्रौर ग्रविभाज्य धारा है जो कभी मन्द ग्रौर कभी तीव्र गति से ग्रव्याहत रूप मे प्रवहमान है। देश ग्रौर काल की सीमाएँ उसके लिए ग्रस्वीकाय है। इसलिए किसी भी भाषा ग्रथवा साहित्य का ग्रनुसन्धान-काय तब तक ग्रपूरग ही माना जायेगा जब तक उसमे सावदेशिक ग्रौर सार्वकालिक रूप से विचार नही किया जायगा—चाहे वह विचार ग्रानुषगिक ही क्यो न हो। हिन्दी साहित्य के भक्ति-काव्य का विश्लेषग भारतवष की ग्रन्य भाषाग्रो के भक्ति-काव्य के विचार के बिना ग्रपूरग ही माना जायगा। साथ ही साथ विश्व के समकालीन भक्ति-काव्य पर विचार भी उसके लिए ग्रावश्यक होगा। पर इतनी व्यापकता होते हुए भी ग्रनुसन्धान के काय मे उच्चकोटि की वैज्ञानिकता ग्रौर सीमाबद्धता ग्रपेक्षित है। इसीलिए इस विरोधाभास के कारग ग्रनुसन्धान का काय बडा दुरूह, श्रमसाध्य ग्रौर दुस्तर है। यहाँ हम केवल हिन्दी ग्रनुसन्धान की प्रगति पर ही विचार कर रहे है—उसका मूल्याकन या प्रविधि-निर्देश ग्रागे के भाषगो मे विस्तार से होगा। मैं इस भाषग को विशेष रूप से प्रगति तक ही सीमित रखूगा।

हिन्दी के प्राचीन ग्रौर मध्यकालीन साहित्य को लेकर जो ग्रनुसन्धान काय हुग्रा है उसमे कोई व्यवस्था नही है। इस ग्रव्यवस्था का ग्रथ यह नही है कि वह कार्य निम्नकोटि का है। इसका ग्रथ केवल इतना ही है कि उस सम्पूरग कार्य के पीछे कोई सुसबद्ध योजना नही है, इसीलिए उसमे कुछ पिष्टपेषग, कुछ विश्रृखलता ग्रौर कुछ ग्रसम्बद्धता प्रतीत होती है। हमारे विश्वविद्यालयो की शिक्षा-प्रगाली तथा उनका शासन सगठन ही इस ग्रव्यवस्था के मूल कारग हैं। भारतीय विद्वान् मे मनीषा की प्रखरता ग्रौर प्रतिभा का चमत्कार विद्यमान है पर उनके उपयोग के ग्रवसर नही हैं। ग्रब समय ग्रा गया है जब ग्रन्तर्-विश्वविद्यालयीय स्तर पर हमे इन बातो पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए।

हिन्दी-ग्रनुसधान का प्रारभ

हिन्दी मे ग्रनुसन्धान का कार्य गत ४० वर्षों से हो रहा है ग्रौर ग्रब तक लगभग २७५ प्रबन्ध भारतीय तथा भारतेतर विश्वविद्यालयो मे शोध-उपाधियो के लिए स्वीकृत किए जा चुके हैं ग्रौर लगभग ४५० शोध-विषयो पर कार्य कराया जा रहा है। भाषा, साहित्य, सस्कृति ग्रौर ग्रन्थ-सपादन सम्बन्धी ग्रनेक विषयो पर हिन्दी ग्रनुसन्धान का कार्य भारत के लगभग बीस विश्वविद्यालयो मे हो रहा है। इनके ग्रतिरिक्त ग्रमेरिका, इगलैंड, फ्रान्स,

जर्मनी आदि के विश्वविद्यालयो मे भी हिन्दी-अनुसधान का काय कराया जा रहा है। हिन्दी-अनुसधान की अद्यतन प्रगति हमारे लिए हष, सन्तोष और गव का विषय हो सकती है, किन्तु अब समय आ गया है कि हम पीछे मुडकर भी देखें और गत का पुन परीक्षण करते हुए उसकी उपलब्धियो, अभावो और त्रुटियो पर विचार करे। तभी आगत और अनागत समय मे हमारा सारस्वत अनुष्ठान सच्चे अर्थो मे सफल एव प्रगतिशील कहा जा सकता है।

दर्शन, धम और सप्रदाय को हम सस्कृति के अन्तगत मान सकते हैं। इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि हिन्दी-सम्बन्धी सबसे प्रथम अनुसधान-काय सस्कृति के क्षेत्र मे हुआ। इसके उपरान्त भाषा और फिर मध्यकालीन काव्य-विषयक शोध-प्रबन्ध लिखे गये। ऐसे सभी कार्यो का श्रीगणेश यूरोप के विश्वविद्यालयो मे ही हुआ। सबसे पहला शोध-कार्य श्री जे० एन० कारपेण्टर ने तुलसीदास के धमदशन पर किया था और उन्हे सन् १६१८ ई० मे लन्दन विश्वविद्यालय से शोध-उपाधि प्राप्त हुई थी। फिर ग्यारह वर्ष के पश्चात् सन् १६३० ई० मे श्री मोहिउद्दीन कादरी को हिन्दुस्तानी ध्वनियो पर लन्दन से पी-एच० डी० की उपाधि मिली। यह हिन्दी का दूसरा शोध-प्रबन्ध है जिसे भाषा-क्षेत्र की दृष्टि से प्रथम प्रबन्ध भी माना जा सकता है। श्री जनादन मिश्र ने 'सूरदास का धार्मिक काव्य' विषय पर सन् १६३४ ई० मे कोनिग्सबर्ग से पी एच० डी० की उपाधि प्राप्त की थी। प्राप्त सूचनाओ और आँकडो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यूरोप के विभिन्न विश्वविद्यालय सन् १६१८ ई० से १६५४ ई० तक हिन्दी मे शोध-काय कराते रहे हैं और अब भी करा रहे हैं। इन ३६ वर्षों के अन्तर्गत लन्दन, पेरिस और कोनिग्सबग विश्वविद्यालयो से सस्कृति, भाषा, काव्य, काव्यशास्त्र, साहित्य का इतिहास और सम्पादन के क्षेत्रो मे निम्नाकित सख्याओ मे शोध-उपाधियाँ दी जा चुकी हैं—सस्कृति मे २, भाषा मे ३, काव्य मे २, काव्यशास्त्र मे १, साहित्य के इतिहास मे १, सपादन मे २।

भाषा के क्षेत्र मे विदेशी विश्वविद्यालय से हिन्दी मे सवप्रथम शोध-उपाधि पाने वाले सज्जन डा० मोहिउद्दीन कादरी हैं और साहित्य के क्षेत्र मे श्री जे० एन० कारपेण्टर ने शोध-उपाधि प्राप्त की थी। भारतीय विश्वविद्यालय से सर्वप्रथम शोध-उपाधि प्राप्त करने वाले सज्जन डा० बाबूराम सक्सेना है। आपने सन् १६३१ मे 'अवधी के विकास' पर प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की थी। साहित्य के क्षेत्र मे भारतीय विश्वविद्यालय के सव प्रथम डाक्टर श्री (अब स्वर्गीय) पीताम्बर दत्त बडथ्वाल थे। आपने काशी हिन्दू

विश्वविद्यालय से सन् १९३४ ई० मे डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की थी। आपके शोध का विषय था—'निर्गुण स्कूल आव हिन्दी पोइट्री।'

प्रारम्भ मे काशी और आगरा विश्वविद्यालयो मे शोध-उपाधि केवल डी० लिट्० ही थी। कुछ काल उपरान्त इन दोनो विश्वविद्यालयो मे तथा कुछ अन्य भारतीय विश्वविद्यालयो मे पी-एच० डी० की उपाधि भी दी जाने लगी। कलकत्ता और प्रयाग विश्वविद्यालय मे डी० फिल० की उपाधि दी जाती थी और इस समय भी दी जाती है। भारतीय विश्वविद्यालयो से सर्वप्रथम डी० लिट्० और पी-एच० डी० प्राप्त करने वाले महानुभावो के नाम इस प्रकार हैं जिन्हे सन्, अनुसधाता, विषय और उपाधि की दृष्टि से यहाँ अकित किया गया है —

प्रयाग विश्वविद्यालय

सन्	अनुसन्धाता	विषय	उपाधि
१९३१	श्री बाबूराम सक्सेना	अवधी का विकास	डी० लिट्०
१९४०	श्री लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५० से १९०० ई० तक)	डी० फिल०

काशी विश्वविद्यालय

सन्	अनुसन्धाता	विषय	उपाधि
१९३४	श्री पीताम्बरदत्त बडथ्वाल	हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय	डी० लिट्०
१९५२	सुश्री शकुन्तला दुबे	हिन्दी-काव्य-रूपो का उद्भव और विकास	पी-एच० डी०

आगरा विश्वविद्यालय

सन्	अनुसन्धाता	विषय	उपाधि
१९३९	श्री हरिहरनाथ हुक्कू	रामचरितमानस के विशिष्ट सन्दर्भ मे तुलसीदास की शिल्प-कला का अध्ययन	डी० लिट्०
१९४७	श्री सोमनाथ गुप्त	हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास	पी-एच० डी०

नागपुर विश्वविद्यालय

सन्	अनुसन्धाता	विषय	उपाधि
१९३८	श्री बल्देवप्रसाद मिश्र	तुलसी दर्शन	डी० लिट्०
१९४०	श्री रामकुमार वर्मा	हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	पी-एच० डी०

पजाब विश्वविद्यालय

१६३८	श्री इन्द्रनाथ मदान	सामाजिक वातावरण के विशिष्ट सदर्भ मे आधुनिक हिन्दी-साहित्य की समालोचना	पी-एच० डी०

कलकत्ता विश्वविद्यालय

१६४३	श्री नलिनी मोहन सान्याल	बिहारी भाषाओ की उत्पत्ति और विकास	डी० फिल्०

पटना विश्वविद्यालय

१६४४	श्री सुभद्र झा	मैथिली भाषा का विकास	डी० लिट्०
१६४४	श्री धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी	बिहार के सन्त कवि दरिया साहब	पी-एच० डी०

लखनऊ विश्वविद्यालय

१६४६	श्री उदयभानुसिह	महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग	पी-एच० डी०
१६५६	श्री त्रिलोकीनारायण दीक्षित	चरनदास, सुन्दरदास और मलूकदास के दार्शनिक विचार	डी० लिट्०

राजस्थान विश्वविद्यालय

१६४६	श्री सरनामसिह शर्मा	हिन्दी साहित्य पर सस्कृत साहित्य का प्रभाव	पी-एच० डी०

दिल्ली विश्वविद्यालय

१६५१	श्री विमलकुमार जैन	सूफीमत और हिन्दी साहित्य	पी-एच० डी०

सागर विश्वविद्यालय

१६५१	श्री वीरेन्द्र कुमार शुक्ल	भारतेन्दु का नाट्य साहित्य	पी-एच० डी०

अलीगढ विश्वविद्यालय

१६५६	श्री गोवधन नाथ शुक्ल	कविवर परमानन्द और उनका साहित्य	पी-एच० डी०

सन् १९१८ ई० से लेकर अब तक के स्वीकृत शोध प्रबन्ध, जो हिन्दी के प्राचीन और मध्यकाल पर लिखे गये है, विषय की दृष्टि से अनेक वर्गों मे विभक्त किये जा सकते हे। प्रमुखरूपेग निम्नाकित वग-विभाजन ही अधिक उचित एव सरल माना जा सकता है—(१) दशन, धम, सम्प्रदाय, इतिहास, समाज एव सस्कृति सम्बन्धी वग। (२) विशेष धारा या प्रवृत्ति-सम्बन्धी वर्ग (३) विशेष कवि, लेखक या ग्रन्थ सम्बन्धी वग (४) पथ, सम्प्रदाय और युग-विशेष के साहित्यकारो का वग (५) पृष्ठभूमि, विकास एव परम्परा-प्रभाव सम्बन्धी वग (६) काव्य-रूप सम्बन्धी वर्ग (७) काव्यशास्त्र-सम्बन्धी वग (८) हिन्दी साहित्य के इतिहास का वग (९) ग्रन्थ भाषा तथा भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी वग (१०) ग्रन्थ-सम्पादन सम्बन्धी वग।

विषयानुसार वर्गीकरण

(१) दशन, धम, सप्रदाय, इतिहास, समाज एव सस्कृति-सम्बन्धी वर्ग—(क) आदिकाल—इस काल से सम्बन्धित हिन्दी का कोई शोध-प्रबन्ध किसी विश्वविद्यालय से स्वीकृत नही हुआ।

(ख) मध्यकाल—पटना विश्वविद्यालय के तत्वावधान मे सन् १९४४ ई० मे श्री धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने 'दरिया साहब' प्रबन्ध मे विशेषत दाशनिक पक्ष का ही अध्ययन प्रस्तुत किया है। किन्तु भारतीय विश्वविद्यालय के हिन्दीतर विभागो ने भी दशन, इतिहास और सस्कृति के क्षेत्र मे अध्ययन कराये है। डा० आनन्द प्रकाश माथुर ने प्रयाग विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग से हिन्दी साहित्य के आधार पर १६वी-१७वी शताब्दियो की सामाजिक अवस्था का अध्ययन प्रस्तुत किया, जिस पर सन् १९४७ ई० मे डी० फिल्० की उपाधि प्रदान की गई। लखनऊ विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के अन्तगत डा० समरबहादुरसिंह ने रहीम की रचना मे उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री की खोज करके सन् १९५२ई० मे पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। प्रयाग विश्वविद्यालय के दशन-विभाग से डा० शीलवती मिश्र ने सन् १९४८ ई० मे डी० फिल० की उपाधि प्राप्त की। उनके शोध प्रबन्ध का विषय था—'हिन्दी सन्तो—विशेषतया सूरदास, तुलसीदास और कबीरदास पर—वेदान्त पद्धतियो का ऋण।' सन् १९५८ ई० मे डा० सोम-नाथ शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य के आधार पर भारतीय सस्कृति' शीषक शोध-प्रबन्ध पर आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। सन् १९५६ ई० मे डा० गणेशदत्त ने 'मध्यकालीन हिन्दी साहित्य मे चित्रित समाज' नामक शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करके आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि पाई। राजस्थान विश्वविद्यालय के अन्तर्गत डा० रामा-

नन्द तिवारी का शोध-प्रबन्ध 'सत्य शिव सुन्दरम्' भी इसी वग के अन्तगत आता है। इस पर सन् १९५८ ई० मे पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई थी। इसी वष श्री गिरीशचन्द्र तिवारी ने 'कबीर के बीजक की टीकाओ की दाशनिक व्याख्या' प्रस्तुत की और पी एच० डी० की उपाधि पायी।

(२) **विशेष धारा या प्रवृत्ति सम्बन्धी वग**—इस वग मे आदि काल से सम्बन्धित दो शोध-प्रबन्ध उल्लेखनीय है। सन् १९५३ ई० मे 'सिद्ध साहित्य' पर शोध-काय करके श्री धमवीर भारती ने प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फिल० की उपाधि प्राप्त की। सन् १९५५ ई० मे डा० इन्द्रपालसिह ने लखनऊ विश्व-विद्यालय से अपने शोध-काय पर पी-एच० डी० की उपाधि ली। उनके शोध-प्रबन्ध का विषय था—'आदिकालीन हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ।'

मध्यकालीन साहित्य पर अपेक्षाकृत अधिक शोध-अध्ययन प्रस्तुत किये गये। स्वर्गीय डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल का शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी काव्य मे निर्गुण सप्रदाय' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सन् १९३४ ई० मे स्वीकृत हुआ। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र से सम्बन्धित यह सब से पहला शोध-प्रबन्ध है जो भारतीय विश्वविद्यालय मे प्रस्तुत किया गया था। सन् १९३५ ई० मे 'मध्यकालीन सन्त साहित्य' पर डा० रामखेलावन पाण्डेय को पटना विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि मिली। डा० ब्रजमोहन गुप्त का शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी-काव्य मे रहस्य-वादी प्रवृत्तियाँ' सन् १९४६ ई० मे प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फिल्० के लिए स्वीकृत हुआ। सन् १९४७ ई० मे 'हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य' (जायसी का विशेष अध्ययन) शोध-प्रबन्ध पर श्री पृथ्वीनाथ कमल कुलश्रेष्ठ को प्रयाग वि० वि० से ही उपाधि दी गई। प्रेमाख्यान काव्यधारा पर अन्य तीन शोध-प्रबन्ध भी लिखे गये हैं। 'सूफीमत और हिन्दी-साहित्य' नाम का शोध-प्रबन्ध डा० विमल कुमार जैन ने लिखा जिस पर दिल्ली विश्वविद्यालय से १९५१ ई० मे पी-एच० डी० मिली। 'हिन्दी के भक्तिकालीन कृष्ण-काव्य मे सगीत' विषय पर उषा गुप्त को लखनऊ से पी-एच० डी० की उपाधि १९५५ मे प्राप्त हुई। दूसरा शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी साहित्य के हिन्दू प्रेमाख्यानकार' डा० हरिकान्त श्रीवास्तव ने लखनऊ विश्वविद्यालय मे प्रस्तुत किया और पी-एच० डी० के लिए सन् १९५२ ई० मे स्वीकृत हुआ। तीसरा शोध-प्रबन्ध 'जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि' था जिस पर डा० सरला शुक्ला को लखनऊ वि० वि० से ही सन् १९५४ ई० मे पी-एच० डी० प्रदान की गई। वीर काव्यधारा का अध्ययन डा० टीकमसिह तोमर ने 'हिन्दी वीर काव्य (सन् १६०० से १८०० तक)' शोध-प्रबन्ध के रूप मे प्रस्तुत किया और प्रयाग विश्वविद्यालय से सन् १९५२ ई०

मे डी० फिल्० प्राप्त की। 'रीतिकालीन काव्य और सगीत का पारस्परिक सम्बन्ध' विषय पर दिल्ली विश्वविद्यालय से उमा मिश्रा को पी-एच० डी० १९५८ ई० मे मिली। मध्यकालीन काव्य के प्रकृति चित्रण पर दो शोध प्रबन्ध प्रस्तुत हुए—एक 'हिन्दी साहित्य के भक्ति और रीतिकालो मे प्रकृति और काव्य' शीषक से प्रयाग विश्वविद्यालय मे डा० रघुवश सहाय वर्मा द्वारा और दूसरा 'हिन्दी काव्य मे प्रकृति-चित्रण' शीषक से आगरा विश्वविद्यालय मे डा० किरण कुमारी गुप्ता द्वारा। दोनो ही पर सन् १९४८ ई० मे उपाधिया प्रदान की गई। शोध प्रबन्धो के इसी वग मे डा० शलकुमारी का डी० फिल्० का शोध प्रबन्ध हिन्दी काव्य मे नारी-भावना' भी आता है। यह सन् १९४९ ई० मे प्रयाग विश्वविद्यालय से स्वीकृत हुआ था। सन् १९५६ ई० मे 'रीति-कालीन कवियो की प्रेम व्यजना' पर काशी विश्वविद्यालय से डा० बच्चनसिह को पी-एच० डी० मिली और सन् १९५७ ई० मे उषा पाण्डेय ने 'मध्यकालीन काव्य मे नारी-भावना' पर प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फिल्० प्राप्त की। रसो की दृष्टि से आगरा विश्वविद्यालय के अन्तगत दो शोध-अध्ययन प्रस्तुत हुए हैं —एक 'हिन्दी काव्य (१६००-१८५० ई०) मे शृङ्गार रस' शीषक प्रबन्ध जिस पर डा० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी को पी-एच० डी० मिली और दूसरा 'हिन्दी काव्य मे करुण रस (१४००-१७०० ई० तक)' शीर्षक प्रबन्ध पर डा० ब्रजवासी लाल श्रीवास्तव को सन् १९५६ ई० मे पी-एच० डी० प्रदान की गई। इसी वग के अन्तगत डा०प्रेमनारायण शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य मे विविध वाद' भी आता है, क्योकि इसमे भी प्रवृत्तियो का ही अध्ययन है। इस पर सन्१९५२ ई० मे आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि दी गई थी। मध्य-कालीन मुक्तक काव्यधारा का अध्ययन स्वतत्र रूप से हुआ है जो कवि-विशेष के अध्ययन को भी लेकर चला है।

(३) **विशेष कवि, लेखक या ग्रथ सम्बन्धी वग**—इस वग के अन्तगत प्रमुख रूप से वे ही शोध-प्रबन्ध लिखे गये है जिनमे अनुसधाता का ध्यान कवि-विशेष पर ही अपेक्षाकृत अधिक केन्द्रस्थ रहा है। यो तो थोडा-बहुत कवि का अध्ययन उन प्रबन्धो मे भी प्रस्तुत किया गया है जिनका विवरण 'विशेष धारा या प्रवृत्ति सम्बन्धी वग' के अन्तगत दिया जा चुका है।

हिन्दी के आदि काल से सम्बन्ध रखने वाले दो कवियो पर शोध-प्रबन्ध लिखे गये। डा० विपिनविहारी त्रिवेदी ने 'चन्दवरदायी और उनका काव्य' शीर्षक शोध प्रबन्ध पर कलकत्ता विश्वविद्यालय से सन् १९४८ मे डी० फिल्० की उपाधि प्राप्त की और इसी वर्ष डा० रागेय राघव ने 'गुरु गोरखनाथ और

उनका युग' प्रबन्ध प्रस्तुत करके आगरा विश्वविद्यालय ने पी-एच० डी० प्राप्त की। सन् १९४७ मे प्रयाग से पृथ्वीनाथ कमल कुलश्रेष्ठ को हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य मे जायसी का अध्ययन विषय पर डी० फिल्० की उपाधि मिली ।

मध्यकाल से सम्बन्धित पहला शोध-प्रबन्ध जो इस वग के अन्तगत माना जा सकता है, डा० एफ० ई० के का है जो लन्दन विश्वविद्यालय मे लिखा गया था । इसका शीषक है—'कबीर तथा उनके अनुयायी' । इस पर लेखक को सन् १९३१ ई० मे पी-एच० डी० की उपाधि दी गई थी । सन् १९५१ मे कबीर सम्बन्धी एक और शोध प्रबन्ध 'कबीर की विचारधारा' शीषक डा० गोविन्द त्रिगुणायत ने आगरा विश्वविद्यालय को प्रस्तुत किया । कबीर के अतिरिक्त सन्त कवियो की परम्परा मे रैदास, मलूकदास और शिवनारायन पर शोध प्रबन्ध स्वीकृत हुए है । यह काय लखनऊ विश्वविद्यालय के अन्तगत हुआ । सन् १९५३ मे इसी विश्वविद्यालय से डा० नारायणदास को 'आचाय भिखारीदास' पर पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई । सन् १९५६ मे महेशचन्द सिंहल को 'सन्त सुन्दरदास' पर आगरा से पी-एच० डी० मिली । राजस्थान विश्वविद्यालय से सन् १९५२ ई० मे फैयाजअली खाँ को नागरीदास के अध्ययन पर पी-एच० डी० की उपाधि मिली । इसी विश्वविद्यालय ने डा० श्यामशकर दीक्षित को 'परमानन्द दास जीवनी और कृतिया शीषक प्रबन्ध पर सन् १९५८ ई० मे शोध-उपाधि प्रदान की । इससे पहले सन् १९५६ ई० मे डा० गोवधननाथ शुक्ल अलीगढ विश्वविद्यालय मे 'परमानद दास पर काय करके पी-एच० डी० प्राप्त कर चुके थे । उनके शोध-प्रबन्ध का शीषक है—'कविवर परमानन्द और उनका साहित्य' । इसी विश्वविद्यालय से डा० विजयपाल सिह ने सन् १९५८ ई० मे 'केशव और उनका साहित्य' प्रबन्ध पर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की है । सन् १९५० ई० मे लखनऊ विश्वविद्यालय से और सन् १९५७ ई० मे पजाब विश्वविद्यालय से भी डा० किरणचन्द्र शर्मा का केशव के अध्ययन पर शोध-प्रबन्ध स्वीकृत हुए थे । पजाब विश्वविद्यालय ने सन् १९४५ ई० मे डा० लक्ष्मीधर शास्त्री को 'बरकत-उल्ला पेमी कृत प्रेमप्रकाश' पर पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की । धारापरक अध्ययन के अतिरिक्त जायसी, तुलसी, सूर आदि का एकात्मक अध्ययन भी हुआ है । आगरा विश्वविद्यालय से डा० जयदेव कुलश्रेष्ठ को 'जायसी—उनकी कला और दशन' पर सन् १९४९ ई० मे पी-एच० डी० की उपाधि मिली । एकात्मक विशेष अध्ययन की दृष्टि से तुलसीदास और सूरदास पर शोध-प्रबन्ध अधिक सख्या मे लिखे गये है । तुलसी-दास पर पहला शोध-प्रबन्ध नागपुर विश्वविद्यालय के अन्तगत डा० बल्देव

प्रमाद मिश्र का 'तुलसी दशन' के नाम से प्रस्तुत हुआ था और इस पर अनुसधाता को सन् १९३८ ई० मे डी० लिट्० की उपाधि दी गई थी। 'तुलसी एक अध्ययन (विशेषत मानस के आधार पर)' शोध प्रबन्ध डी० लिट्० के लिए आगरा विश्वविद्यालय से सन् १९३९ ई० मे स्वीकृत हुआ। इसके लेखक डा० हरिहरनाथ हुक्कू है। तुलसीदास के जीवन और कृतियो का गवेषणात्मक अध्ययन डा० माता प्रसाद गुप्त द्वारा हुआ है। सन् १९४० ई० मे गुप्त जी को प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० लिट्० की उपाधि दी गई थी। १९४९ ई० मे डा० राजपति दीक्षित को 'तुलसीदास और उनका युग' शीषक शोध-प्रबन्ध पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से डी० लिट्० की उपाधि प्रदान की गई है। सन् १९५७ ई० मे श्री राजाराम रस्तौगी का 'तुलसीदास—जीवनी और विचारधारा' शोध-प्रबन्ध पटना वि० वि० मे पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत हुआ है। कृष्ण काव्य पर कई शोध-प्रबन्ध लिखे गये। 'कृष्ण-काव्य मे भ्रमर गीत' विषय पर श्यामसुन्दर दीक्षित को १९५४ मे आगरा से तथा 'हिन्दी मे भ्रमर-गीत-काव्य और उसकी परम्परा' विषय पर दिल्ली से श्रीमती स्नेहलता श्रीवास्तव को सन् १९५५ मे पी एच० डी० की उपाधि मिली।

सूरदास पर पहला शोध-प्रबन्ध डा० जनादन मिश्र का 'सूरदास का धार्मिक काव्य' है जिस पर सन् १९३४ ई० मे कौनिग्सबग विश्वविद्यालय से पी एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई थी। दूसरा उपाधि-प्राप्त शोध-प्रबन्ध 'सूरदास, जीवनी और कृतियो का अध्ययन' डा० ब्रजेश्वर वर्मा का है जो प्रयाग विश्वविद्यालय के अन्तगत लिखा गया और सन् १९४५ ई० मे डी० फिल्० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। सन् १९५१ ई० मे आगरा विश्वविद्यालय से भारतीय साधना और सूरदास' पर डा० मुशीराम शर्मा को पी-एच० डी० की उपाधि मिली और सन् १९५३ ई० मे 'श्रीमद्भागवत और सूरदास' शीषक मेरा शोध-प्रबन्ध आगरा से ही पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। सन् १९५४ ई० मे डा० रामधन शर्मा का 'सूर के दृष्टकूट पद' पजाब विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत हुआ। सन् १९५६ मे श्री मनमोहन गौतम को 'सूर की काव्य-कला' पर दिल्ली विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि दी गई है। सन् १९५५ ई० मे नागपुर विश्वविद्यालय से 'सूरदास और उनका साहित्य' प्रबन्ध पर डाक्टर हरकैलाश शर्मा को डी० लिट्० की उपाधि दी गई। सन् १९५८ ई० मे श्री छोटेलाल को 'मीरा बाई' प्रबन्ध पर आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि मिली है। दिल्ली विश्वविद्यालय से श्री महेन्द्रकुमार

को 'मतिराम कवि और आचाय के रूप मे' अध्ययन पर पी एच० डी० की उपाधि सन् १९५८ मे मिली ।

रीति-परम्परा के कवियो मे पहला अध्ययन डा० नगेन्द्र का है। सन् १९४६ मे उनका शोध-प्रबन्ध 'रीति-काव्य की भूमिका मे देव का अध्ययन' आगरा विश्वविद्यालय से डी० लिट्० के लिए स्वीकृत हुआ। इसके उपरान्त आगरा विश्वविद्यालय के अ`तगत ही घनानन्द और द्विजदेव पर भी शोध-प्रबन्ध पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत हुए। सन् १९५८ ई० मे श्री रामसागर त्रिपाठी ने 'मुक्तक काव्य परम्परा के अन्तगत बिहारी का विशेष अ-ययन' प्रस्तुत किया और आगरा विश्वविद्यालय से पी एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। पजाब विश्वविद्यालय के अन्तगत सन् १९५८ मे श्री धमपाल अष्ट ने 'दशम ग्रथ का कवित्व' शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करके पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की है तथा 'हिन्दी काव्य मे शृंगार-परम्परा और महाकवि बिहारी' पर श्री गणपति गुप्त को पी-एच० डी० की उपाधि मिली। सन् १९५६ मे श्री जयराम मिश्र ने ग्रन्थ साहब पर अपना शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करके पी-एच० डी० प्राप्त की। उनके विषय का शीषक था—'आदि गुरुग्रन्थ साहब के धार्मिक और दाशनिक सिद्धान्त।'

पथ, सप्रदाय, और युग विशेष के साहित्यकारो का वर्ग—विशेष पन्थ या सप्रदाय के अन्तर्गत जिन कवियो ने अपनी काव्य-सर्जना की, उनका शोध-काय इसी वग मे समाविष्ट होगा। डा० दीनदयालु गुप्त का 'अष्टछाप और बल्लभ सप्रदाय' प्रबन्ध जिस पर सन् १९४४ ई० मे प्रयाग से डी० लिट्० प्रदान की गई थी, इस वग मे प्रथम शोध-अध्ययन माना जा सकता है। डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल को सन् १९४८ ई० मे लखनऊ विश्वविद्यालय से 'अकबरी दरबार के हिन्दी-कवि' पर और डा० सावित्री सिन्हा को सन् १९५१ ई० मे दिल्ली विश्वविद्यालय से 'मध्यकालीन हिन्दी-कवयित्रियो' प्रबन्ध पर पी एच० डी० की उपाधिया मिली। सन् १९५६ मे 'राधावल्लभ सम्प्रदाय साहित्य और सिद्धान्त' विषय पर डा० विजयेन्द्र स्नातक को डाक्टर की उपाधि दिल्ली से प्राप्त हुई। सन् १९५८ मे डी० लिट्० के लिए स्वीकृत हुआ श्री भगवती प्रसाद सिह का 'रामभक्ति मे रसिक सप्रदाय' प्रबन्ध इसी वग मे ही जाता है। सन् १९५६ ई० म डी० फिल्० की उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबन्ध 'रीवा दरबार के हिन्दी-कवि' भी इसी वग मे आता है, जिसे विमला पाठक ने प्रयाग विश्वविद्यालय मे प्रस्तुत किया था।

(५) **पृष्ठभूमि, विकास एव परम्परा-प्रभाव-सम्बन्धी वर्ग**—इस वग के

प्रथम अनुसन्धाता डा० कामिल बुल्के है। 'रामकथा का उद्भव और विकास' पर आपको सन् १९४९ मे प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फिल्० की उपाधि मिली थी। इसमे लेखक ने राम-विषयक अनेक कथाओ का वैज्ञानिक अध्ययन करके साहित्य के पाठको के लिये पृष्ठभूमि का स्वरूप स्पष्ट किया हे। डा० धमवीर भारती ने अपने प्रबन्ध 'सिद्ध साहित्य मे सन्त काव्यो की पृष्ठभूमि' प्रस्तुत की है। सन् १९५३ मे यह प्रबन्ध प्रयाग से डी० फिल्० के लिए स्वीकृत हुआ था। दिल्ली विश्वविद्यालय मे पी-एच० डी० के लिये स्वीकृत डा० हरिवश कोछड का 'अपभ्र श साहित्य' शीषक प्रबन्ध पृष्ठभूमि और परम्परा-प्रभाव को ही उपस्थित करता है। इसी वग मे डा० रामसिह तोमर का 'प्राकृत और अपभ्र श का हि दी साहित्य पर प्रभाव' नामक प्रबन्ध आता है। कुछ ऐसे शोध-प्रबन्ध भी लिखे गये जिनमे परम्परा का प्रभाव दिखाया तो गया है, किन्तु वह दो भाषाओ के अध्ययन के रूप मे है। मध्यकाल से सम्बन्धित ऐसे दो शोध-प्रबन्ध उल्लेखनीय हैं—एक तो डा० जगदीश गुप्त का 'हिन्दी और गुजराती काव्य का तुलनात्मक अध्ययन' और दूसरा डा० रतनकुमारी का 'हिन्दी और बँगला के वैष्णव कवियो का तुलनात्मक अध्ययन'। इन दोनो प्रबन्धो पर क्रमश १९५३ और १९५५ ई० मे प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फिल्० की उपाधि घोषित हुई थी। सन् १९५७ और ५८ ई० मे क्रमश दो प्रबन्ध आगरा विश्व-विद्यालय मे प्रस्तुत किये गये जिन पर पी-एच० डी० की उपाधियाँ दी गई। एक का शीषक है—'कृत्तिवासी बगला रामायण और रामचरित मानस का तुलनात्मक अध्ययन' और दूसरा है—'हिन्दी और मराठी निर्गु ण काव्य।' डा० विनयमोहन शर्मा को 'हिन्दी को मराठी सन्तो की देन' विषय पर सन् १९५६ मे नागपुर से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई।

(६) **काव्य-रूप सम्बन्धी वर्ग**—महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीतकाव्य आदि काव्य-रूपो का अध्ययन इस वर्ग के अन्तगत आता है। सन् १९४९ ई० मे लदन विश्वविद्यालय से डा० हरिश्चन्द्र राय को पी-एच० डी० दी गई थी। उनके शोध प्रबन्ध का विषय था—'हिन्दी-साहित्य मे महाकाव्य।' डा० शिव-मगलसिह 'सुमन' ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से गीतकाव्य के अध्ययन पर ही डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की थी। इसी विश्वविद्यालय से फिर सन् १९५२ ई० मे डा० शकुन्तला दुबे का प्रबन्ध 'हिन्दी काव्य-रूपो का उद्भव और विकास' स्वीकृत हुआ। 'मध्यकालीन छन्द का ऐतिहासिक विधान' पर लन्दन से माहेश्वरीसिह को तथा हिन्दी छन्द-शास्त्र पर जानकीसिह मनोज को प्रयाग से डी० फिल्० की उपाधि मिली।

(७) **काव्यशास्त्र-सम्बन्धी वर्ग**—इस वग का प्रथम शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी काव्यशास्त्र का विकास' प्रयाग विश्वविद्यालय मे डा० रामशकर शुक्ल 'रसाल' ने लिखा था जो सन् १९३७ मे डी० लिट्० के लिए स्वीकृत हुआ था। डा० भगीरथ मिश्र का 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास' सन् १९४७ मे लखनऊ विश्वविद्यालय से पी एच० डी० के लिये स्वीकृत हुआ। काव्यशास्त्र के विविध अगो पर भी कई शोध-प्रबन्ध लिखे गये। 'आधुनिक मनोविज्ञान के प्रकाश मे रसशास्त्र' का अध्ययन डा० छैलबिहारी गुप्त 'राकेश' ने प्रस्तुत किया। डा० भोलाशकर व्यास ने' 'ध्वनि-सिद्धान्त के विकास' पर राजस्थान विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। 'भारतीय काव्यशास्त्र के अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद' का अध्ययन डा० छैलबिहारी गुप्त 'राकेश' ने प्रयाग विश्वविद्यालय मे प्रस्तुत किया और उस पर १९५२ ई० मे डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की। डा० ओम्प्रकाश ने हिन्दी-साहित्य मे अलकार विषय पर १९५१ मे आगरा से पी एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

(८) **हिन्दी साहित्य के इतिहास से सम्बन्धित वर्ग**—इस वर्ग मे हम उन्ही शोध-प्रबन्धो को लेगे जिनमे आदिकाल और मध्यकाल का ही विशेषत विवेचन किया गया है। इसमे प्रथम शोध-प्रबन्ध डा० रामकुमार वर्मा का 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' है जिसमे स० ७०० वि० से १७०० तक के साहित्यकारो और प्रवृत्तियो का आलोचनात्मक विवरण और विवेचन है। इस पर सन् १९४० ई० मे नागपुर वि० वि० से पी-एच० डी० प्राप्त हुई। डा० मोतीलाल मेनारिया ने 'राजस्थान का प्राचीन पिंगल साहित्य' पर राजस्थान विश्वविद्यालय से पी एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। डा० भोलानाथ तिवारी का 'हिन्दी नीति-काव्य' बहुत कुछ अशो मे इसी वग के अन्तर्गत आता है।

(९) **ग्रन्थ-भाषा तथा भाषा-विज्ञान सम्बन्धी वर्ग**—मध्यकालीन ब्रज और अवधी भाषाओ पर कई शोध-प्रबन्ध लिखे गये हैं और लिखे जा रहे हैं। आदिकालीन भाषा पर भी खोज-कार्य हुआ है। सन् १९५६ ई० मे नामवरसिंह ने 'रासो की भाषा' शीर्षक शोध-प्रबन्ध लिखकर काशी विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। मध्यकालीन काव्यो की ब्रजभाषा तथा लोकजन्य ब्रजभाषा पर सर्वप्रथम लिखा हुआ शोध-प्रबन्ध डा० धीरेन्द्र वर्मा का है, जिस पर सन् १९३५ मे पेरिस विश्वविद्यालय से डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त हुई थी। इधर लखनऊ विश्वविद्यालय से भी तुलसी और सूर की भाषाओ पर दो शोध-प्रबन्ध लिखे गये हैं जो पी-एच० डी० के

लिए स्वीकृत होने के उपरान्त प्रकाशित भी हो चुके है। 'तुलसीदास की भाषा' के लेखक डा० देवकीनन्दन श्रीवास्तव है और 'सूर की भाषा' डा० प्रेमनारायण टडन के द्वारा लिखी गई है।

(१०) **ग्रन्थ-सपादन सम्बन्धी ग्रन्थ**—आदिकालीन ग्रन्थो के सपादन का काय पजाब और कलकत्ता विश्वविद्यालय मे हुआ है। सन् १९५८ ई० मे वेणीप्रसाद शर्मा को पजाब विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० प्राप्त हुई। उनका शोध-विषय था—'पृथ्वीराज रासो का अध्ययन और लघुतम सस्करण का आलोचनात्मक सपादन'। इसी वष श्री तारकनाथ अग्रवाल को बीसलदेवरासो के सपादन पर कलकत्ता वि० वि० से डी० फिल्० की उपाधि प्राप्त हुई। सपादन के क्षेत्र मे सबसे पहला काय डा० लक्ष्मीधर का है। आपने सन् १९४१ मे लन्दन से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की थी। आपका शोध विषय था—"मलिक मुहम्मद जायसी कृत पद्मावत का सटिप्पण सपादन और अनुवाद (१६ वी शताब्दी की अवधी का अध्ययन)।" सन् १९५० मे कु० वोदवाल का 'रामचरितमानस का पाठ-क्रम' शोध प्रबन्ध पेरिस से डी० लिट्० के लिए स्वीकृत हुआ। ग्रन्थ-सपादन के काय पर अपेक्षाकृत कम अध्ययन हुआ है। इस ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

अनुसधान-विषयक परामर्श

सन् १९१८ से आज तक जो अनुसधान काय हुआ है उसका आदर्श पाश्चात्य ही रहा है। यद्यपि भारतीय साहित्य मे शिक्षा, व्याकरण और निरुक्त आदि के कुछ प्राचीन ग्रन्थो मे अनुसधान की अपनी शिल्प-विधि मिलती है, किन्तु वतमान काल के अनुसधित्सु उसकी ओर श्रद्धा की दृष्टि से नही देख रहे हैं। यास्क, पाणिनि और पातजलि ने हमारे समक्ष जो माग प्रस्तुत किया है उससे भी आज के अनुसधित्सुओ को लाभ उठाना चाहिए।

अब तक हिन्दी मे प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य पर जितना शोध कार्य हुआ है उस पर पहले ही इतिहास के रूप मे एक विहगम दृष्टि डाली जा चुकी है। उन विषयो पर विचार करने पर विदित होता है कि बहुत से विषयो का पिष्टपेषण भी हुआ है। अपभ्रश साहित्य और प्राचीन हिन्दी साहित्य पर शोध-कार्य वाछनीय है। हिन्दी का भाषा-तत्व क्षेत्र सैकडो शोध पडितो की ओर प्यासी आखो से देख रहा है। आज प्राचीन हिन्दी-साहित्य के ग्रन्थो का प्रामाणिक सम्पादन अवश्य होना चाहिए। ग्रन्थ का प्रामाणिक सस्करण ही साहित्यिक विवेचन एव सास्कृतिक विश्लेषण की सच्ची आधार-शिला है। जब नीव ही टेढी-सीधी होगी तो उस पर भवन किस प्रकार सीधा बन

सकता है। जनपदीय भाषाओ की शब्दावली का अक्षय कोश हिदी के शब्द-भडार को सच्चे अर्थो मे सम्पन्न बना सकता है। पारिभाषिक शब्दावली की समस्या भी इससे बहुत कुछ अशो मे हल हो सकती है। भावव्यजकता के लिए हिन्दी की जनपदीय उपभाषाओ के शब्दो मे जितनी क्षमता और बल है, उतना गढे हुए शब्दो मे कभी आ नही सकता। हमारे शब्द-दारिद्रय को दूर करने के लिए हिन्दी की जनपदीय बोलिया रत्नो की खान है। हिन्दी भाषा और बोलियो के वैज्ञानिक अध्ययन का क्षेत्र इतना विशाल और विस्तृत है कि भारतवर्ष के कई विश्वविद्यालय अनेक वर्षो तक अनुसधान-काय करा सकते हैं। भाषा और साहित्य के माध्यम से सामाजिक एव सास्कृतिक अध्ययन बहुत कम हुआ है। हिन्दी-काव्यशास्त्र सस्कृत-काव्यशास्त्र का पल्ला पकड करके ही चल रहा है। आज यह महती आवश्यकता है कि हिन्दी साहित्य के स्वतत्र अनुशीलनोपरान्त हमे हिन्दी काव्यशास्त्र पर मौलिक चिन्तन और विश्लेषण प्रस्तुत करना चाहिए। हमे सीमित क्षेत्र मे सूक्ष्म और गम्भीर अध्ययन की ओर बढने की आवश्यकता है—विषय चाहे साहित्यिक हो अथवा भाषा वैज्ञानिक।

शोध-प्रबन्धो मे अधिकाश ऐसे मिलते है जिनमे विषय को व्यथ मे ही द्रौपदी के चीर का रूप दिया जाता है। यहाँ तक कि कुछ मे तो विषय-प्रतिपादन 'शीषक' से भिन्न ही मिला है। मूल विषय पर ठोस रूप मे लिखे हुए शोध-प्रबन्ध बहुत कम है। सास्कृतिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का सहारा लेकर थीसिस को भारी-भरकम बनाने की प्रवृत्ति आज के अनुसधित्सु मे दृष्टिगोचर होती है। हिदी-साहित्य के मूल अश पर शोधपरक दृष्टि से तो कम लिखा जाता है। हॉ, जदुनाथ सरकार, स्मिथ, ईश्वरीप्रसाद आदि इतिहासकारो की शब्दावली का सहारा लेकर ग्रन्थ के पन्ने पर पन्ने भरे जाते हैं। आज का अनु-सधित्सु शोध और आलोचना मे अन्तर ही नही समझता। अधिकतर शोध-प्रबन्ध आलोचनात्मक पुस्तको के रूप मे लिखे हुए मालूम पडते है। यदि सम्पूर्ण शोध-प्रबन्ध पढने के उपरान्त यह देखा जाय कि शोधार्थी ने विषय-सम्बद्ध कितना लिखा है, तो पूरे ग्रन्थ का चतुर्थांश ही ठिकाने का मिलेगा। शोध-प्रबन्धो मे शोध की वैज्ञानिक पद्धति तथा शैली के प्रतिपादन का अभाव खटकता है। अनुसधित्सु की ईमानदारी और परिश्रम ही अनुसन्धान का प्राण है। इस प्राण का अभाव कुछ प्रबन्धो मे हमे मिला है।

अनुसधित्सु के लिए जिन प्रमुख बातो की आवश्यकता है, उनमे निम्नाकित उल्लेखनीय है—(१) विषय-निर्वाचन (२) विषय-विश्लेषण (३) शि[illegible]धि (४) पुस्तकालय (५) निर्देशन व्यवस्था और निर्देशक (६) प्रशिक्षण केन्द्र।

मे तथ्य-निगूढन तथा अनेक असम्बद्ध समस्याओ को उठाकर विषय का गुम्फन आदि विषय-विश्लेषण की सीमाओ से परे हैं।

अनुसधान की प्रविधि या शिल्पविधि के सम्बन्ध मे इस गोष्ठी मे विस्तार से विचार होगा। अनुसन्धान-काय का यह अग उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि विषय प्रतिपादन। इसे हम स्थूल रूप से शोध की शली कह सकते हैं पर निबन्ध अथवा काव्य शैली से यह सवथा भिन्न है। निबन्ध अथवा काव्य की शैली व्यक्ति की अन्त प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति होती है जबकि शोध-शैली कुछ निश्चित नियमो पर आधृत है। इसमे उच्च कोटि की वैज्ञानिकता, लाघव और पूर्णता होती है। खेद से कहना पडता है कि हमारे प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य पर लिखे गये अनेक शोध-प्रबन्धो मे इस प्रविधि की अपूणता खटकती है। साहित्य के विद्यार्थियो की उवरा कल्पना सवतन्त्र स्वतन्त्र होकर उन्मुक्त क्षेत्र मे विचरण करती है और वैज्ञानिकता का ठीक प्रतिरूप उनकी कृतियो मे अभिव्यक्त होता है। वास्तव मे अनुसन्धान मे कला और विज्ञान का जैसा सुन्दर, उपयोगी और सुखद मणि-काचन सयोग सम्भव है वैसा अन्यत्र दुलभ है। विषय-प्रस्तावना, विषय-प्रतिपादन, सदभ-आकलन, निष्कष-निष्कासन तथा ग्रन्थ-सूची निर्माण सभी का तो शिल्पविधि से सम्बन्ध है। पाश्चात्य विद्वानो ने तो इस विषय को लेकर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिख डाले है पर हिन्दी मे इस प्रकार का कोई ठिकाने का ग्रन्थ देखने को नही मिला।

अनुसधान-काय के लिए अच्छे पुस्तकालयो की घोर आवश्यकता है। प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य के विषय मे तो अनुसन्धाताओ को महती कठिनाइयो का सामना करना पडता है। कुछ पाश्चात्य विद्वानो ने बडे परिश्रम से स्थान-स्थान पर भ्रमण कर प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य के कुछ ग्रन्थो के सदभ प्रस्तुत किये थे। नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, ब्रज साहित्य मण्डल आदि सस्थाओ ने इस ओर स्तुत्य प्रयास किये है परन्तु अभी भी कितनी असीम निधि अन्धकार के गर्त मे है, नही कहा जा सकता। प्रकाश मे आए हुए साहित्य का भी अभी तक हमारे शोधार्थी ठीक-ठीक उपयोग नही कर पाते। परम्परा से प्राप्त पर्युषित ज्ञान पर ही अपनी मौलिकता का मुलम्मा चढाकर वे ज्ञानलवदुर्विदग्ध है। यह प्रवृत्ति अनुसन्धान के मूल को ही चरने वाली है। विश्वविद्यालयो के अधिकारियो, विभिन्न सस्थाओ तथा सरकार को पुस्तकालयो की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। अनुसन्धित्सुओ के लिए विशेष सुविधाएँ हो और पुस्तकालयो के उपयोग की उनमे तमीज हो।

हमारे अनुसन्धित्सु को एक बडी कठिनाई निर्देशन-व्यवस्था और निर्देशक

की है। यह समस्या बडी जटिल है और इसका हल ढूढ निकालना भी साधारण बात नही है। इस सम्बन्ध मे मै केवल इतना ही निवेदन करना चाहता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति हर विषय का विशेषज्ञ नही है। नैयायिक अवश्य ही वैयाकरण हो या मीमासक योग दशन का भी पडित हो—यह आवश्यक नही है। भाषा और साहित्य की अनेक शाखाएँ और प्रशाखाएँ है। किसी एक पल्लवित और पुष्पित शाखा पर यदि कुछ स्थिति भी हो जाय, अधिकार न सही, तो नि श्रेय-साधिगम अवश्यम्भावी है। विद्यार्थी के प्रति उदारता प्रकट करने के और भी अवसर हैं, कम से कम अनुसन्धान क्षेत्र मे तो बौद्धिक ईमानदारी को बरतना ही चाहिए। अपने विषय मे अनुसन्धान कराने का भार स्वीकार करने पर निर्देशक को अपने उत्तरदायित्व का पूर्ण रूप से निर्वाह करना चाहिए। मैं समझता हूँ दो या तीन विद्यार्थियो से अधिक का पथ-प्रदशन किसी भी प्राध्यापक के लिए कठिन है। विषय के ज्ञान की अपेक्षा निर्देशक के लिए प्रविधि का ज्ञान अधिक आवश्यक है।

इन सभी बातो के लिए प्रशिक्षण-केन्द्रो की व्यवस्था अनिवाय है। देश मे कई स्थानो पर इस प्रकार के प्रशिक्षण केन्द्रो की व्यवस्था हो जहाँ वर्ष मे दो बार कम से कम एक एक मास के लिए अनुसन्धान की विभिन्न शाखाओ पर सैमीनार हो। तभी अनुसन्धान के उपयुक्त वातावरण बन सकता है और उपयोगी अनुसन्धान-काय हो सकता है।

मैंने आपकी सेवा मे सक्षेप से प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य के विषय मे अनुसन्धान की प्रगति प्रस्तुत की तथा अनुसन्धान के कुछ सामान्य गुण-दोषो का विवेचन किया। अब मैं इस सम्बन्ध मे दो-एक सुझाव देकर अपना भाषण समाप्त करता हूँ। उच्चकोटि के अनुसन्धान के लिए सबसे आवश्यक बात यह है कि जिस स्थान पर विद्यार्थी अनुसन्धान-काय करे वहाँ उसके लिए उचित निर्देशन की व्यवस्था हो, अनुकूल वातावरण हो तथा आवश्यक सामग्री की सुविधा हो। विशेष जानकारी के लिए यदि उसे अन्यत्र यात्रा करनी भी पडे तो कोई आपत्ति नही है। इसके लिए हमे अनुसन्धान के केन्द्र बनाने होगे जिनमे प्रधान रूप से कुछ विषयो के लिए व्यवस्था करनी होगी। प्राचीन साहित्य मे अभी बहुत कुछ करणीय है—भाषा की दृष्टि से, ग्रन्थ-सम्पादन की दृष्टि से तथा साहित्य-विवेचन एव आलोचना की दृष्टि से। प्राकृत और अपभ्रश के विभिन्न भाषा-रूपो का अभी तक अध्ययन नही हुआ है। कितने ही जैन, नाथ और बौद्ध ग्रन्थ जिनका सम्बन्ध हिन्दी-साहित्य से है अभी तक प्रकाश मे नही आए हैं। हिन्दी-भाषा के ही प्रारम्भिक रूप का अभी तक निर्णय नही हो सका

है। साहित्य की विभिन्न शैलियाँ, जो हिन्दी मे रीतिकाल तक पल्लवित होती रही हैं, अभी तक अनुसन्धान का विषय बनी हुई हैं। इसी प्रकार लोक-प्रचलित अनेक शैलियो के भी अध्ययन की आवश्यकता है। १४वी शताब्दी से पहले के हिन्दी-साहित्य के सम्बन्ध मे अभी बहुत कम जानकारी प्राप्त है। अपभ्र श साहित्य, रासो साहित्य, देशी भाषा के साहित्य के अतिरिक्त इस युग मे बहुत से मुसलमान सन्त और कवि हुए हैं। उनके कलामो, आख्यान-काव्यो और प्रवचनो का भी यदि सग्रह हो सके तो वह बडा उपयोगी होगा। साथ ही साथ, काश्मीर, कन्नौज, उज्जैन, काशी आदि केन्द्रो मे जो उस समय सस्कृत मे काय हुआ है उसका सकलन और मूल्याकन भी आवश्यक है। हिन्दीतर भाषाओ मे जो उस युग मे काय हुआ है उसकी जानकारी भी हिन्दी-साहित्य के विद्यार्थी के लिए आवश्यक है। इस प्रकार प्राचीन साहित्य की सामग्री पर गम्भीरता से विचार होना चाहिए और किसी सुनिश्चित योजना के आधार पर काय होना चाहिए।

मध्यकालीन साहित्य की समस्या और भी टेढी है। मध्य युग बहुत बडा है और इसमे कई शताब्दिया आ जाती है। अभी तक भक्तिकालीन साहित्य पर जो कार्य हुआ है वह नगण्य है। पुष्टि-मम्प्रदाय के कवियो को लेकर अथवा राम-भक्ति शाखा को आधार बनाकर ही हमारे यहाँ अनुसन्धान-कार्य हुआ है। उस युग मे भक्ति के कितने सम्प्रदाय थे—सन्तो के कितने वग थे, सूफियो ने न जाने कितने आख्यान काव्य लिखे यह अभी तक निश्चित नही हो सका है। हिन्दीतर भारतीय भाषाओ का भी यह युग बडा समृद्ध रहा है। प्रवृत्तियाँ भी लगभग समानान्तर रही हैं। इस प्रकार—साहित्य का अपार पारावार अभी तक दृष्टि से ओझल है। यत्र-तत्र सरोवर मे चञ्चु-प्रवेश मात्र ही विद्वानो का हो पाया है। प्रकाश मे आए हुए ग्रन्थो का ठीक-ठीक सम्पादन भी नही हो सका है। भारतीय वाङ्मय की अविच्छिन्न सरस धारा मे अवगाहन करने का अभी हिन्दी के विद्वान् को अवसर ही नही मिल पाया है। दृष्टिकोण के भेद ने सारे साहित्य के कलेवर को किस प्रकार बदल दिया—यह एक चमत्कार था। लौकिक रस की धारा मे उफान आने पर फिर वही साहित्य का रूप शृगार-कर्दम से पकिल प्रतीत होने लगा, यह भी एक आश्चर्य ही था। उत्तर मध्यकाल मे कितने विशाल साहित्य की सर्जना हुई—इसकी कल्पना भी सम्भव नही है। गिने-चुने राजदरबारी कवियो की कविता-मजरियाँ ही इस उपवन का सर्वस्व नही हैं। शुद्ध साहित्य की दृष्टि से अभी इस युग की कला-कृतियो की खोज की आवश्यकता है। मूल्याकन तो अभी नगण्य ही है। सस्कृत काव्य-शास्त्रो,

रसग्रन्थो तथा नायक-नायिका भेदो के आधार पर ही हमने इस युग की कृतियो को जाँचा है अथवा कही सस्कृत ग्रन्थो का ज्ञान न होने से मौलिकता का आरोप किया है तो कही उचित मूल्याकन के अभाव मे उस युग के कवियो को नक्कालची का फतवा दिया है। उच्च कोटि के भक्तो को उनकी दरबारी कविता के आधार पर व्यभिचारी सिद्ध करने का प्रयास किया है या राधाकृष्ण का नाम लेकर अपनी प्रेम पीर को अभिव्यक्त करने वाले कवियो को उच्चकोटि का कवि ठहराया है। विकृत और कृत्रिम भाषा को स्वाभाविक भाषा समझ बैठे हैं तो प्रकृत और प्रचलित भाषा के प्रयोगो को गँवारू बतला दिया है। सस्कृत काव्य-शास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायो का विवेचन कर किसी रीतिकालीन कवि के गुण-दोषो का उचित-अनुचित निरूपण ही हमारे अनुसन्धाता का लक्ष्य रहा है। वास्तव मे सम्पूर्ण प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य का इतिहास फिर से लिखा जाना चाहिए। उपलब्ध प्रकाशित और अप्रकाशित साहित्य-ग्रथो की सूचियाँ बननी चाहिए। भाषा, साहित्य और धम तथा सस्कृति के क्षेत्र निर्धारित हो जाने चाहिए। विषयवार ग्रन्थ-सूचियाँ अलग से बननी चाहिए। यदि सम्भव हो सके तो अन्तर् विश्वविद्यालयीय स्तर पर अनुसन्धान-केन्द्रो की व्यवस्था होनी चाहिए। यह गोष्ठी इस प्रकार के पुनीत काय का प्रथम सोपान है। मुझे आशा है कि इससे हिन्दी जगत् मे जागृति होगी, प्रेरणा मिलेगी और स्फूर्ति का सचार होगा।

डॉ० सत्येन्द्र

हिन्दी अनुसंधान की प्रगति (२)

[आधुनिक हिन्दी साहित्य से सम्बद्ध]

सामान्यत यह विश्वास किया जाता है कि अनुसधान या गवेषरगा आधुनिक-पूर्व के युग से सम्बन्धित विषयो पर ही हो सकती है। किन्तु आज इस विश्वास के भ्रान्त होने मे किसी को सदेह नही होगा। ज्ञान-विज्ञान मे आधुनिक युग के विषयो पर ही अन्वेषरग-अनुसधान होता है। जिन विषयो का अपनी निजी प्रकृति के कारण विगत युगो से ही सम्बन्ध होता है, वे भी अब आधुनिक युग को महत्व देने लगे है। उदाहरणार्थ 'इतिहास' मूलत 'विगत' का ही होता है, पर अब तो वतमान काल मे निर्माण-सलग्न ऐतिहासिक शक्तियो का अनु-सधान करना भी महत्वपूर्ण कार्य माना जाता है। साहित्य मे भी पहले ज्यादा आकषरग प्राचीन और मध्ययुगीन साहित्य की ओर रहा। विद्वान् और अनु-सधाता इन्ही युगो के अँधेरे गह्वरों मे प्रकाश लेकर पहुँचे और उनको प्रोद्भासित करने का यशस्वी प्रयत्न किया।

किन्तु शीघ्र ही आधुनिक युग पर भी दृष्टि गयी। इस दृष्टि ने भी परम्परानुसार, आधुनिक युग के ऐतिहासिक विषयो को अनुसधान के लिए चुना। आधुनिक युग हिन्दी मे 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' से माना जाता है। इसके अनुसार सवत् १६०० के लगभग से आधुनिक युग चला। तब से आज तक एक शताब्दी से कुछ अधिक का युग बीत चुका है। अत बिल्कुल आज से पूव के समय से सम्बन्धित विषय आधुनिक युग मे ही ऐतिहासिक माने जायेगे। इसी धारणा ने एक डेढ शताब्दी पूव तक किसी भी जीवित कवि या लेखक को अनुसधान का विषय नही बनने दिया था। विश्वविद्यालयो के तत्कालीन अध्यक्ष तथा अनुसधान समिति के सदस्य ऐसे विषयो को बडी रुखाई से रद्दी की टोकरी मे डाल देते थे। द्विवेदी जी से पूव के आधुनिक युग के अश मे किसी विषय पर अनुसधान करने की आज्ञा देने मे तो इन्हे अब कुछ काल से ही प्रसन्नता होने लगी थी।

यह हिन्दी अनुसधान क्षेत्र की द्वितीय स्थिति थी। यह स्थिति भी बदली। विश्वविद्यालय के क्षेत्र मे अब यह कहा जाने लगा कि यदि किसी वतमान कवि या लेखक का व्यक्तित्व इतना प्रौढ हो गया है कि वह ऐतिहासिक महत्व पा सकता है तो उस पर अनुसधान क्यो न करने दिया जाय? इस प्रकार आधुनिक युग की प्रवृत्तियो को भी अनुसधान योग्य माना जाने लगा। इस प्रकार हिन्दी-अनुसधान के तृतीय विकास मे जीवित कवियो और अधुनातन प्रवृत्तियो को भी अनुसधान-योग्य माना जाने लगा है। फिर भी इस सम्बन्ध मे कुछ हिचक विद्यमान अवश्य है, और एक सीमा तक ऐसी हिचक रहना समीचीन भी है।

इन तीनो स्थितियो मे होने वाले अनुसधान-कार्य का परिणाम भी कम नही है। मैंने आधुनिक साहित्य-विषयक १५६ अनुसधानो की सूची बनायी, उसमे से मैंने देखा कि ८७ पर उपाधियाँ मिल चुकी है, और ७२ विषय अनुसधानाधीन हैं। इन अनुसधानाधीन विषयो मे से कुछ पर प्रबन्ध तैयार हो चुके होगे और वे विश्वविद्यालयो मे निर्णयाथ पहुँचे हुए होगे।

जिन ८७ विषयो पर उपाधियाँ मिल चुकी है उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है

आधुनिक साहित्य पर प्राप्त उपाधियो का विषय-विभाजन

स० १९०० से

साहित्य, सामान्य	व्यक्ति	काव्य	गद्य, सामान्य	उपन्यास	नाटक	कहानी	कथा-साहित्य	निबंध	जीवनी	गद्य-काव्य	आलोचना
१६ +४ —१	११ +५ —२	२७ +१ —४+	१	+२	१२ —१	२	१	१	१	२	४ —१

समाचार-पत्र	शास्त्र, पिंगल आदि	कुल योग
१	२ —२	८१+(६)=८७

अनुसधानाधीन आधुनिक साहित्य

साहित्य, सामान्य	व्यक्ति	काव्य	गद्य, सामान्य	उपन्यास	नाटक	कहानी	कथा-साहित्य	निबंध	जीवनी	गद्य-काव्य	आलोचना
९ +१	६ +२ —२	२६ +२ —२	२	१४	६ +१						५ —२

समाचार-पत्र	शास्त्र, पिंगल आदि							कुल योग / सपूर्ण योग	६९ +(३) / १५०
	१ —१								

सकेत—चिह्न + वाले अक यह बताते हैं कि उस सख्या विषयानुसधान मे इस वर्ग से भी सम्बन्धित चर्चा है, अर्थात् वह इस वर्ग मे भी रखा जा सकता है, पर प्रमुखता न होने से इसमे नही रखा गया। चिह्न — वाले अक यह बताते हैं कि इस सख्या के अनुसधान इस वग मे सम्मिलित है, यद्यपि उनमे अन्य वर्ग मे सम्मिलित होने योग्य सामग्री भी है। योग मे जो सख्या कोष्ठक मे घेर दी गयी है, उस सख्या के अनुसधान इस वर्गीकरण मे नही सम्मिलित किये गये, भले ही वे सूची मे दे दिये गये हैं।

एक बात ध्यान मे रखने योग्य है कि यह सख्या आज तक की पूरी सख्या नही है, क्योकि अभी तक ऐसा कोई साधन हिन्दी क्षेत्र मे प्रस्तुत नही हुआ जिससे इनकी ठीक-ठीक सख्या जानी जा सके। यह खेद की ही बात है। दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के द्वारा इस अभाव की पूर्ति का सफल प्रयास किया गया हे। हिन्दी अनुसन्धान परिषद् के तत्वावधान मे 'हिन्दी के स्वीकृत शोध-प्रबन्ध' नामक ग्रन्थ अभी हाल मे ही प्रकाशित हुआ है। 'हिन्दी अनुशीलन' ने भी इस दिशा मे कुछ उद्योग किया था पर वह भी सफल नही हो सका। विषयान्तर

करते हुये मुझे क्षमा किया जाय तो मैं कहूँगा कि हिन्दी का क्षेत्र बहुत विशाल है और होता जा रहा है। कितने ही विश्वविद्यालय है जिनमे हिन्दी का अनुसधान कार्य हो रहा है। जब तक उन समस्त विश्वविद्यालयो के हिन्दी-विभागो की एक ऐसी केन्द्रीय समिति गठित नही हो जाती तो प्रत्येक विश्व-विद्यालय के स्वीकृत विषयो को नियमित रूप से प्रतिमाह एक पत्रक के रूप मे प्रकाशित करती रहे, तब तक समस्या हल नही हो सकती। विश्वविद्यालयो का भी सहयोग इस समिति को मिलना चाहिए। प्रत्येक विश्वविद्यालय हर बार अपने यहाँ के स्वीकृत विषयो की विधिवत् एक सूची प्रस्तुत करता है—एकेडेमिक या ऐक्ज़ीक्यूटिव काउसिल मे प्रेषित करने के लिए। उसी सूची की एक प्रति इस केन्द्रीय सस्थान को भेज दी जाया करे, जिससे केन्द्रीय सस्थान अपनी सूची बनाकर नियमित रूप से प्रकाशित करता रहे। तो कहना यह है कि उक्त सख्या पर निभर नही किया जा सकता, पर उक्त सख्या मे जो विभाजन है, उससे जो ज्ञान उपलब्ध होता है, वह बहुत कुछ विश्वसनीय ही होगा।

स्वीकृत शोध-प्रबन्धो की उक्त तालिकाओ से यह विदित होता है कि अनु-सधान के क्षेत्र मे सबसे अधिक महत्व काव्य का रहा। दूसरा स्थान सामान्य साहित्य का है। तीसरा स्थान नाटको को मिलता है। उसके बाद व्यक्तिपरक विषयो को, फिर आलोचना को। इसके बाद शास्त्रीय विषय आते है। कहानी और गद्य-काव्य का मूल्य शास्त्रीय विषय के समान रहा है। उपन्यास-विषयक अनुसधान तो हुए है, पर महत्व उपन्यासकार को मिला है। इसके उपरान्त सामान्य गद्य, निबन्ध, जीवनी, समाचार-पत्र आदि पर भी एक एक प्रबन्ध प्रस्तुत किये गये है।

अनुसधानाधीन विषयो पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि इस महत्व-क्रम मे परिवतन उपस्थित हुआ है। काव्य ने अपना स्थान अक्षुण्ण रखा है। वह अब भी प्रथम स्थानीय है। सबसे अधिक सख्या मे काय इसी पर हो रहा है। किन्तु दूसरा स्थान अब उपन्यास का हो गया है। तीसरा स्थान सामान्य साहित्य का है। इसके उपरान्त व्यक्तिपरक विषयो और नाटक को समानरूपेण महत्व मिला है। आलोचना पाँचवे स्थान पर है। सामान्य गद्य और शास्त्रीय विषय पर एक-एक अध्ययन हो रहा है।

ऊपर जो विविध शीषक विविध विभागो के दिए गए हैं, उनमे भी विषयो मे प्रकारान्तर है जिसे इन वृक्षो से समझा जा सकता है कोष्ठक के अन्तर्गत अक अनुसधानाधीन विषयो के है जिनकी सूची निबन्ध के अत मे प्रस्तुत की जा रही है। (कोष्ठकहीन सख्याएँ अनुसहित विषयो की है और कोष्ठक के अन्तर्गत सख्याएँ अनुसधानाधीन विषयो की।)

काव्य का अनुसंधान-चन्द्र अपनी पूर्ण कलाओं से देदीप्यमान हो रहा है।
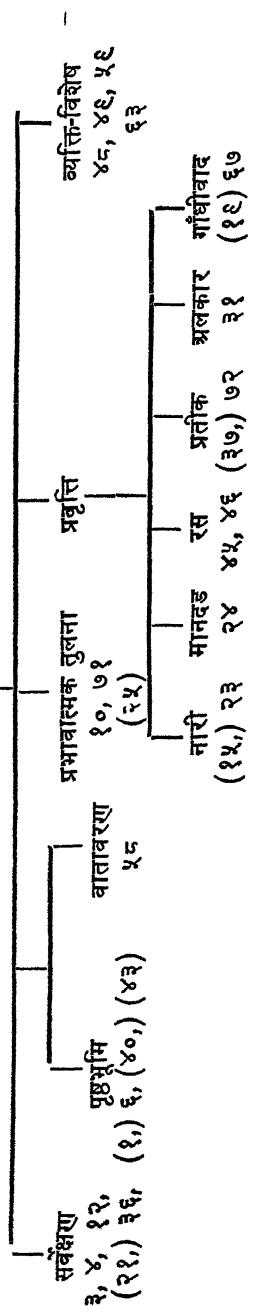
नाटक, उपन्यास और आलोचना के अध्ययन का वर्गीकरण यो किया जा सकता है —
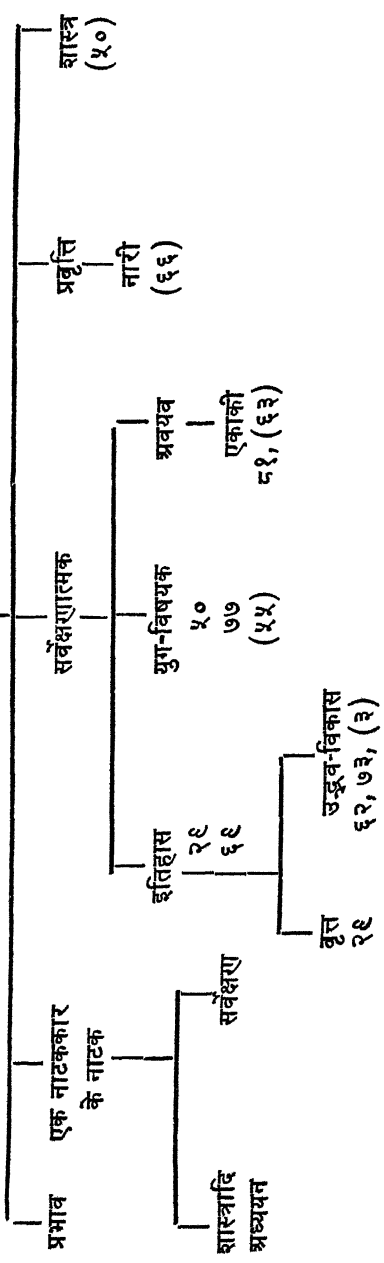
इन वृक्षो के देखने से यह सामान्यत विदित हो जाता है कि

(१) काव्य पर सबसे अधिक अध्ययन और शोध हुआ है, और उसमे क्षेत्र और दृष्टि मे कितना ही प्रकारान्तर प्रस्तुत हुआ है ।

(२) काव्य का यह अध्ययन तथ्य तथा तत्त्व दोनो दृष्टियो से हुआ है। इस अध्ययन और अनुसधान मे क्षेत्र को सीमित बनाकर गहराई मे उतरने की पूरी चेष्टा की गयी प्रतीत होती है ।

(३) काव्य या कविता के अतिरिक्त अन्य विषय-विभागो मे न तो उतनी प्रकारान्तरता विदित होती है न उतनी गहरी पैठ ही ।

इसी के साथ प्रस्तुत सूची पर दृष्टि डालने से विदित होता है कि निम्न-लिखित विषयो पर दुहरा-तिहरा काम हो रहा है

(४) (क) **महाकाव्य=१, २१ ३५, ६१, ६६** नायक, (२२) नारी (३४,) नाट्यतत्व परम्परा, (६१)—कामायनी

(ख) **नारी ६, २३, (१०,) (१५,) (१६,) (६६)**

(ग) **हिन्दी साहित्य मे आलोचना का उद्भव व विकास ३३, ५२**

(घ) **गद्य-काव्य, २८, ४०**

(ङ) **नाटक-साहित्य इतिहास २६, ६०, ७३, (३)**

(च) **प्रेमचन्द ३७, ५५, ५६, (६४) (७२)**

(छ) **भारतेन्दु युगीन नाटक-साहित्य ५०, ७७**

(ज) **कामायनी ५३, (६१)**

(झ) **मथिलीशरण गुप्त ७४, ७८**

(ञ) **वृन्दावनलाल वर्मा ८२, (५१,) (७१)**

(ट) **रामचन्द्र शुक्ल, ७६, ८७, (५७)**

(ठ) **'प्रसाद' १६, ७६, (४) (६६)**

(ड) **द्विवेदी ६३, (३१)**

(ढ) **गाँधीवाद ६७, (१६)**

जिन विषयो पर दुहरा-तिहरा काम यहाँ दिखाया गया है, उनमे से कुछ काम तो वैशिष्टय से युक्त करके किये जा रहे है, पर कुछ ऐसे अवश्य है जो विषय-क्षेत्र की दृष्टि से बिल्कुल एक-से है । अनुसधाता की अपनी प्रतिभा और व्यक्तित्व से ही उनमे देन का अन्तर पडेगा ।

(५) आधुनिक युग के काव्य-ग्रन्थो मे केवल 'कामायनी' ही विशेष अनु-सधान और अध्ययन का पात्र समझी गयी है ।

(६) ऊपर जिन विशेष कवियो और लेखको के दोहरे-तिहरे अध्ययन का उल्लेख हुआ है उनमे प्रेमच द, मैथिलीशरण, वृन्दावनलाल वर्मा, 'प्रसाद,' द्विवेदी तथा शुक्ल के अतिरिक्त जिन अन्य कवि तथा लेखको का व्यक्तिपरक अनुसधान किया गया या किया जा रहा है, वे है (१) बालमुकुन्द गुप्त, (२) बालकृष्ण भट्ट, (३) किशोरीलाल गोस्वामी, (४) अयोध्यासिह उपाध्याय, (५) रत्नाकर, (६) प० श्रीधर पाठक, (७) भारतेन्दु ।

इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि किस क्षेत्र मे हिन्दी-अनुसधान की प्रवृत्ति विशेष मनोयोग से हुई हे, किस क्षेत्र मे विशेष गहराई और व्यापकता आयी है, किस क्षेत्र मे मात्र सर्वेक्षण अथवा सामान्य इतिवृत्त प्रस्तुत किये गये है, कौन-से काव्य विशेष अध्ययन के पात्र समझे गये हैं। इस प्रकार के अध्ययन से यह भी स्वयमेव झलक उठता है कि हिन्दी के आधुनिक युग की इस शताब्दी मे ऐसे क्या-क्या विषय है जो छूटे हुए है ।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के अनुसधान से प्राप्त प्रबन्धो पर दृष्टिपात करने से कोई भी व्यक्ति गव का अनुभव कर सकेगा क्योकि इन अनुसधानो मे यह स्वस्थ प्रवृत्ति प्रबल है कि उन क्षेत्रो से भी सामग्री प्राप्त की जाय जो अब तक नितान्त अछूते रहे है । यद्यपि सामान्यत यह विश्वास किया जाता है कि आधुनिक युग से सम्बन्धित विषय प्राय वे ही व्यक्ति लेना स्वीकार करते हैं जो अनुसधान की अपेक्षा डिग्री को महत्व देते हैं और यह समझते है कि आधुनिक युग पर अनुसधान बहुत आसानी से हो सकता है। पर जो लोग ऐसा समझने हैं वे निश्चय ही भ्रम मे है । प्रत्येक युग का अनुसधान अपनी निजी कठिनाइयाँ प्रस्तुत करता है । किसी भी युग का अनुसधान सरल कार्य नही । आधुनिक युग के कृतित्व के सूत्र इतने जटिल और विस्तृत होते है कि उन्हे सुलझाना और एकत्र करना सरल नही होता । यह बात आधुनिक युग विषयक अनुसधान के किसी भी प्रबन्ध को देखकर समझी जा सकती है । इन प्रबन्धो के आधार पर यदि अनुसधाताओ की यात्राओ और सम्पर्कों का भूगोल प्रस्तुत किया जाय तो विदित होगा कि उत्तरी भारत का कोना-कोना उन्हे छानना पडा है। विविध पुस्तकालयो की बात छोडिये, सरकारी सुरक्षित फाइले, प्राचीन से प्राचीन हस्तलेख तथा समाचार-पत्रादि जो कही कूडे के ढेर मे पडे थे, गाँवो की झोपडियो मे या नगरो के मकानो मे बस्तो मे बँधी, दीमक की शिकार होती हुई चिट्ठियाँ आदि, या ग्रन्थो की पाडुलिपियाँ, कवि या लेखक के नाते-रिश्तेदारो से प्राप्त मौखिक विवरण-सभी से विविध तन्तु एकत्र कर अनुसधाता ने अपने प्रबन्ध मे अनुसधेय का एक नया अनोखा रूप प्रस्तुत किया है, अपनी सीमाओ मे विवश रहते हुए

भी उसने उसे अपनी शक्ति भर परिपूर्णता प्रदान करने की चेष्टा की है। अब तक साहित्य का इतिहास या कवि का जीवन-वृत्त प्रस्तुत करने वाला यहाँ-वहाँ से उठाकर जो एक ऊपरी विवरण-चित्र और अध्ययन प्रस्तुत करता था, इन शोध प्रबन्धो ने उनके खोखले भागो और गर्त्तो को ठोस सामग्री और कडियो से जोडकर परिपूर्णता प्रदान की है। यह उपलब्धि किसी साहित्य को गौरव प्रदान कर सकती है। यह सच है कि कही-कही प्रमाद अथवा व्यग्रता आपको खटकेगी, कही सतही चर्चा से भी आप ऊब सकते है, पर समस्त परिमाण को आप दृष्टि मे रखे तो ऐसे स्थल नगण्य ही प्रतीत होगे। यह भी ठीक है कि इन अनुसधानो के द्वारा जो सामग्री प्रकाश मे आई है और अधिक अनुसधान से इससे भी अधिक सामग्री प्रकाश मे आ सकती थी। पर इससे जो सामग्री प्रकाश मे आयी है उसका मूल्य कम नही होता, न उस सामग्री को प्रकाश मे लाने वाले अनुसधाता का मूल्य ही कम होता है। उसने जो काम किया है उससे आगे का काम आगे वालो को पूरा करना है। यही सारस्वत परम्परा है। यह तथ्य-परक अनुसधान की स्थिति है।

इन अनुसधानो का तत्व-परक स्तर भी पूरी तरह सतोष देने वाला है। तात्विक विचारणा मे जितना ऊँचे से ऊँचे उठा जा सकता है, विषयानुकूल उतनी ऊँचाई इन आधुनिक विषयो के अनुसधानो मे हमे मिल जाती है। विशद से विशद अध्ययन की छाप इन प्रबन्धो मे है, अपने विषय की परम्परा के भारतीय और विदेशी सूत्रो से भी ये परिचित हैं।

सामान्य साहित्य को ले, इसमे अनुसधान का अथ होता है साहित्य के समग्र रूप की दृष्टि से अनुसधान, किसी रूप या अश-विशेष की दृष्टि से नही। इस क्षेत्र मे एक बडा काय तो आधुनिक युग को तीन भागो मे बाँट कर किया गया है।

सर्वेक्षण

आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०–१९०० ई०) लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
हिन्दी साहित्य का विकास (१९०० से १९२५ ई०) श्रीकृष्णलाल
हिन्दी साहित्य (१९२६–१९४७ ई०) भोलानाथ
हिन्दी साहित्य मे विविध वाद—प्रेमनारायण शुक्ल

पृष्ठभूमि :

हिन्दी साहित्य और उसकी सास्कृतिक पृष्ठभूमि—
लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
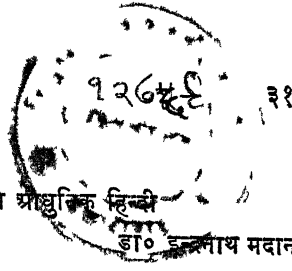
वातावरण

सामाजिक वातावरण के विशिष्ट सदभ मे आधुनिक हिन्दी साहित्य की समालोचना —डा० इन्द्रनाथ मदान

प्रभाव व तुलना

हिन्दी साहित्य को आर्यसमाज की देन —लक्ष्मीनारायण गुप्त

अग्रेजी का हिन्दी भाषा और साहित्य पर प्रभाव —विश्वनाथ मिश्र

प्रवृत्ति

नारी—आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे नारी (१८५७-१९३९ ई०) —रघुनाथ सिंह

मानदड

आधुनिक हिन्दी साहित्य मे बदलते हुए मानो का अध्ययन —रामेश्वरप्रसाद मिश्र

रस हिन्दी साहित्य मे हास्य रस* —बरसानेलाल चतुर्वेदी

प्रतीक आधुनिक हिन्दी साहित्य मे प्रतीकवाद —चन्द्रकला

अलकार हिन्दी साहित्य मे अलकार*

गाँधीवाद आधुनिक हिन्दी साहित्य मे गाँधीवाद

व्यक्ति-विशेष

बालमुकुन्द गुप्त —नत्थनसिंह

बालकृष्ण भट्ट —राजेन्द्र शर्मा

हरिश्चन्द्र —शिवनारायण बौहरा

महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग —उदयभानुसिंह

कृति-विशेष

कामायनी मे काव्य, सस्कृति और दशन —द्वारिका प्रसाद सक्सेना

स्वच्छन्दतावाद

प्रवृत्ति हिन्दी के आरम्भिक स्वच्छन्दतावादी काव्य और श्रीधर पाठक —श्री रामचन्द्र

कल्पना-विधान हिन्दी कविता मे —रामयतन सिंह

निराशावाद

आधुनिक हिन्दी काव्य मे निराशावाद —शम्भुनाथ पाडेय

रहस्यवाद

हिन्दी काव्य मे रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ* —ब्रजमोहन गुप्त

नारी ग्राधुनिक हिन्दी काव्य मे नारी-भावना (१९००-१९४५ ई०) —शैलकुमारी माथुर

रस हिन्दी काव्य मे करुण रस* —ब्रजवासीलाल श्रीवास्तव

सूफी दक्खिनी हिन्दी के सूफी कवि —विमल वाघ्रे

प्रेम-सौन्दय ग्राधुनिक हिन्दी कविता मे प्रेम-सौन्दय —रामेश्वरलाल खडेलवाल

तुलना एव प्रभाव

ग्राधुनिक हिन्दी काव्य ग्रौर ग्रालोचना पर ग्रग्रेजी प्रभाव —रवीन्द्रसहाय वर्मा

सर्वेक्षण

धारा ग्राधुनिक काव्यधारा —केसरीनारायण शुक्ल

रूप हिन्दी काव्य-रूपो का उद्भव ग्रौर विकास —शकुन्तला दुबे

छन्द ग्राधुनिक हिन्दी कविता मे छन्द —पुत्तूलाल शुक्ल

युग भारतेन्दुयुगीन हिन्दी कविता —ग्रविनाशचन्द ग्रग्रवाल

द्विवेदी युग मे हिन्दी कविता—पुनरुत्थान —ब्रह्मदत्त मिश्र 'सुधीन्द्र'

रूप-विशेष

गीति-काव्य गीति-काव्य का उद्गम-विकास ग्रौर हिन्दी साहित्य मे उसकी परम्परा* —शिवमगलसिंह 'सुमन'

महाकाव्य हिन्दी मे महाकाव्य का स्वरूप-विकास* —शम्भुनाथ सिह

बीसवी शती के महाकाव्य —प्रतिपाल सिंह

हिन्दी महाकाव्यो मे नाटक* —पुष्पलता निगम

भाषा गत सौ वर्षों मे कविता के माध्यम के लिए ब्रजभाषा-खडी बोली सम्बन्धी विवाद की रूपरेखा —कपिलदेव सिंह

कवि-विशेष

रत्नाकर प्रतिभा ग्रौर कला —विश्वम्भरनाथ भट्ट

हिन्दी के प्रारम्भिक स्वच्छन्दतावादी काव्य ग्रौर विशेषत प० श्रीधर पाठक की कृतियो का ग्रनुशीलन —रामचन्द्र

मैथिलीशरण गुप्त कवि ग्रौर भारतीय सस्कृति के ग्राख्याता —उमाकान्त गोयल

जयशकर प्रसाद के काव्य का विकास —प्रेमशकर तिवारी

गुप्त जी का काव्य-विकास —कमलाकान्त पाठक

नाटक .

सर्वेक्षण वृत्त हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास —सोमनाथ गुप्त

विकास वृत्त हिन्दी नाटक का उद्भव व विकास —वी० पी० खन्ना
भारतीय नाटक का उद्भव-विकास* —शिवनन्दन पाडेय
हिन्दी नाटक का उद्भव-विकास* —दशरथ ओझा
युग भारतेन्दुकालीन नाटक-साहित्य —गोपीनाथ तिवारी
भारतेन्दु युग के नाटककार —भानुदेव शुक्ल
अवयव एकाकी हिन्दी एकाकी —रामचरण महेन्द्र

उपन्यास

उपन्यासकार प्रेमचन्द, उनकी कला, सामाजिक विचार और जीवन दर्शन —एस० एन० शुक्ल
प्रेमचन्द एक अध्ययन—राजेश्वर गुरु
समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचन्द —महेन्द्र भटनागर
वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास —शशिभूषण सिंहल

आलोचना

आधुनिक हिन्दी काव्य और आलोचना पर अंग्रेजी प्रभाव —रवीन्द्रसहाय वर्मा
आधुनिक हिन्दी आलोचना की प्रवृत्तियाँ —रामदरश मिश्र
हिन्दी साहित्य मे आलोचना का उद्भव विकास —भगवतस्वरूप मिश्र
आधुनिक हिन्दी साहित्य मे आलोचना का विकास —आर० के० कक्कड
आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त —रामलाल सिह

कथा-साहित्य

आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान —देवराज उपाध्याय
कहानी हिन्दी कहानियो की शिल्प-विधि का विकास —लक्ष्मीनारायणलाल
हिन्दी कहानियो का विवेचनात्मक अध्ययन —बी० डी० शर्मा
गद्य आधुनिक गद्य के विविध साहित्य रूपो के उद्भव विकास का अध्ययन —व० ल० कोतमीरे
निबन्ध हिन्दी निबन्ध के विकास का आलोचनात्मक अध्ययन —यू० सी० त्रिपाठी
जीवनी हिन्दी मे जीवनी साहित्य —चन्द्रबली सिंह
गद्य-काव्य हिन्दी मे गद्यकाव्य का विकास —अष्टभुजा प्रसाद पाडेय
हिन्दी गद्य-काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन —पद्मसिह शर्मा 'कमलेश'
समाचार-पत्र हिन्दी समाचार-पत्रो का इतिहास —रामरतन भटनागर

शास्त्र-पिंगल आधुनिक हिन्दी कविता मे छन्द —पुत्तूलाल शुक्ल

(**टिप्पणी** पुष्पाकित प्रब-धो मे प्रसगात् ही आधुनिक युग के साहित्य का अध्ययन सम्मिलित किया गया है ।)

लोक-साहित्य

आधुनिक हिन्दी साहित्य के सभी क्षेत्रो मे काय हुआ हे, यह उक्त विवरण से प्रतीत होता है। फिर भी यह परिणाम निकाला जा सकता है कि जहा कुछ विषयो पर दुहरा तिहरा काम हो रहा है वहाँ कुछ विषयो पर अब भी समुचित ध्यान नही दिया जा रहा हे। उदाहरणाथ, सामान्य गद्य, कवि अथवा लेखको का व्यक्तिपरक अनुसधान, विशिष्ट काव्यो का अनुसधानात्मक अध्ययन, कहानी का विविधरूपेण अनुसधान, इसी प्रकार निबन्ध का विविध-रूपी अनुसधान तथा अध्ययन उत्साही और परिश्रमी अनुसधाताओ की बाट जोह रहे है। इतनी सतोषप्रद, गौरव और प्रस-नता की बाते होते हुए भी कुछ ऐसी कमियाँ है जिनसे हमारे ये प्रयत्न पूण सम्मान नही पा सके ।

कुछ कमियाँ—सबसे पहली कमी तो अनुसधान प्रणाली की स्थिर प्रक्रिया-विषयक अभाव है। यह बडे खेद की बात है कि हम इतने विशद अनुसधान-काय के उपरान्त भी अनुसधान की एक सामान्य प्रणाली स्थिर नही कर पाये । हमारे अधिकाश प्रबन्धो मे विशाल सामग्री का उपयोग हुआ है, पर उसको व्यवस्थित रूप से अध्ययन और विश्लेषण के द्वारा प्रामाणिक निष्कर्षों तक पहुँचने की दृष्टि से उपयोग मे नही लाया गया । निष्कष और विवरण अनुसधाता की जैसे अपनी धारणाएँ (impressions) मात्र ही प्रतीत होते हैं, तटस्थता तो दीख पडती है पर वैज्ञानिक प्रामाणिकता का अभाव मिलता है। सामान्य ग्रथो और थीसिस ग्रन्थो मे यह अन्तर है कि थीसिस ग्रन्थो मे तटस्थता और वैज्ञानिकता आवश्यक होती हैं।

इसी से सम्बन्धित दूसरी कमी यह विदित होती है कि एक ओर अध्ययन की विशालता दिखाई पडती है, इतने ग-थो और साहित्य और स्रोतो का उपयोग किया गया है कि इस अध्ययन से ही आतक होने लगता है, पर वही ऐसा भी लगता है कि किसी विषय या बात के लिए जितने आवश्यक ग्रन्थ देखे जाने चाहिए थे, वे नही देखे गये और तद्विषयक निष्कष या कथन उन आवश्यक ग्रन्थो के पढने के अभाव में दूषित हो गये हैं ।

उदाहरण के लिए, एक प्रबन्ध मे लिखा गया है कि जैसे भोजपुरी भाषा ने 'कुसुमा' जैसा मार्मिक गीत प्रस्तुत किया वैसा ब्रजभाषा ने नही किया । अब यह स्पष्ट है कि इस लेखक ने ब्रजभाषा के साहित्य और लोक साहित्य पर बहुत

कुछ पढा है उसने भोजपुरी पर भी ग्रथ पढे है। पर जिस बात पर उसने ऐसे अधिकार से लिखा है, उसके सम्बन्ध मे कुछ आवश्यक प्रामाणिक ग्रन्थ नही पढे, और न आवश्यक क्षेत्रीय अनुसधान ही किया। भोजपुरी का 'कुसुमा' गीत ब्रज के 'चन्द्रावली' नाम के गीत का रूपान्तर है, वह ब्रज से ही गया है भोजपुरी मे और इस गीत की पत्र पत्रिकाओ और प्रामाणिक ग्रन्थो मे चर्चा भी हुई है। पर उसी को अनुमधाना ने नही पढा। यह तो केवल एक उदाहरण है।

और यही यह बात भी प्रकट हो जाती है कि हमारे अध्ययनो मे कभी-कभी प्रामाणिक और अप्रामाणिक साहित्य का भेद भी नही किया जाता। किसी भी उल्लेख को प्रमाण की भाति उद्धृत कर दिया जाता है, और किसी भी व्यक्ति के मत को प्रमाण रूप मे दे दिया जाता है। इसमे अनुसधाता के अपने गौरव की भी क्षति हो जाती है।

इसी प्रकार, यह कमी भी खटकती है कि कभी-कभी लेखक अपने अनुसधा-नीय विषय की एक-दो पुस्तके लेकर ही उसके आधार पर सिद्धात निर्धारित करने लग जाता है। आवश्यक यह है कि तत्सम्बन्धी प्राय सभी पुस्तके लेकर और उनके विधिवत् विश्लेषण और अध्ययन के आधार पर कोई निष्कष प्रस्तुत किए जाये। इस प्रणाली के न अपनाने से न केवल यह कि प्रबन्ध के निष्कष और प्रबन्ध का स्तर ही सदोष हो उठता है, वरन् अन्याय भी हो जाता है, और एक विष को फैलने का अवसर मिलता है।

हम अभी अपने अध्ययन और तथ्यो को आँकडो, चित्रो, और ग्राफो से गणितीय विधि से प्रस्तुत और पुष्ट करना भी नही सीख सके हैं, जिससे बहुत से तत्व प्रकट होने से रह जाते हैं। तात्विक विचारणा मे हम अभी कमज़ोर है। हमारा तत्व-चिन्तन उस पुष्ट तार्किक (लौजीकल) प्रक्रिया से नही हो पाता जो उसे प्रामाणिक और मान्य बना देते हैं। हमारे चिन्तन के आधारभूत तक वैज्ञानिक नही हो पाते, निजी धारणा या अनुभूति का रूप ग्रहण कर लेते है।

हमारे अनुसधानो की रूप-रेखाएँ भी सावधानी से नही बनायी जाती। उनमे बहुधा अनावश्यक और भूमिका-विषयक बाते विशेष महत्व ग्रहण कर लेती हैं, जिससे एक तो प्रबन्ध असतुलित हो जाता है, दूसरे आवश्यक विषय को अपेक्षित समय नही मिल पाता।

मान लीजिए आप प्रेमचन्द पूव के उपन्यासो पर प्रबन्ध लिख रहे है तो उसमे उपन्यास विषयक परिभाषा पर अपना पाडित्य दिखाने की क्या इतनी आवश्य-कता होगी कि उसपर आप ५०-६० पृष्ठ व्यय कर दे। मेरी दृष्टि मे तो उपन्यास

की परिभाषा और उपन्यास तथा अन्य साहित्य रूपो से उपन्यास के भेदादि बताने की ऐसे प्रबन्ध मे कोई आवश्यकता नही। हाँ, आवश्यक यह है कि प्रेमचन्द से पूव उपन्यास विषयक क्या 'मत' थे उन्हे खोजकर प्रस्तुत कर दिया जाय और उनमे यदि विकास-क्रम हो तो उसे सामने लाया जाय।

आधुनिक साहित्य के कुछ विशिष्ट विषयो के अनुसधान की भूमिका भी सीधे वैदिक युग से आरम्भ होती है। क्या यह शक्ति का अपव्यय नही है ?

एक तो यह अपव्यय दीखता है और दूसरी ओर उसी विषय पर आपके इस अध्ययन और अनुसधान से पहले क्या क्या अध्ययन और अनुसधान हो चुका हैं, उसके इतिहास का विवरण नही मिलेगा, जो अत्यत आवश्यक है।

इसी प्रकार किसी विषय की भूमिका मे भारत का विशद राजनीतिक, धार्मिक, साहित्यिक, आर्थिक इतिहास गुफित मिलेगा, जो मूल विषय से पूर्णत स्वतत्र होगा। अर्थात् उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का मूल विषय से कहाँ कहाँ, कैसा-कैसा सम्बन्ध है यह आपको विदित नही हो सकेगा। क्या ऐसी भूमिका और ऐसा इतिहास आपके मूल प्रबन्ध के लिए आवश्यक है? क्या इससे आपके प्रबन्ध का मूल्य बढेगा ? ऐसी असबद्ध बाते ही उपहास को प्रेरित करती है। फिर यह देखा गया है कि उक्त इतिहास का आधार आपने उन टैक्स्ट बुको को बनाया है जो आठवी या दसवी कक्षा मे चलती हैं !

हम तुलना से अधिक प्रभावित हो जाते है। इससे बचना चाहिए। जब तक तुलना ही आपका विषय न हो तब तक तुलनात्मक आलोचना से बचिए। यदि तुलना करे ही तो वैज्ञानिक दृष्टि से कीजिए।

कहने का तात्पय यह है कि ऐसी कुछ अनगल और अप्रामाणिक तथा अनावश्यक बाते हमारे प्रबन्धो मे आ जाती हैं, जो नही आनी चाहिए। इन बातो का समावेश न हो, ऐसा उद्योग प्रत्येक अनुसधाता को करना चाहिए।

मुझे विश्वास है कि ऐसी सेमीनार—गोष्ठियाँ—शीघ्र ही एक सामान्य रिसर्च-प्रणाली की स्थापना मे समथ हो सकेगी, जिससे सामान्य कमियाँ दूर हो जायेंगी, और अनुसधाता की व्यक्तिगत प्रतिभा का विशेष उत्कष उससे ऊपर किसी नई चमत्कार-प्रणाली के उद्भव मे दिखायी पडने लगेगा।

सुझाव

१—एक स्वस्थ आलोचना-परम्परा की आवश्यकता है जो शुद्ध सारस्वत दृष्टि से वस्तु निष्ठ हो।

२—एक विदग्ध-मडल की आवश्यकता है जो प्रबन्धो के कुछ भागो को

सशोधित कर सके । हमारे देशमे भी विदेशो की भॉति एककेन्द्रीय शाध सस्थान की आवश्यकता है, जहॉ से एक केन्द्रीय शोध-पत्रिका निकले जिसमे शाधार्थियो के प्रबन्ध के कुछ अश प्रकाशित किए जाएँ और विद्वन्मण्डल उस पर अपनी टीका टिप्पणी करे ।

३—घोर वस्तु निष्ठता की बडी आवश्यकता है ।

४—तुलनात्मकता को बचाना आवश्यक है जब तक वह विषय के अ दर न हो ।

५—अनुसधित्सुओ के समय-समय पर मिलते रहने के समान ही आवश्यक है कि निर्देशक तथा प्राध्यापकगण भी समय समय पर अनुसधान-समस्याओ पर पारस्परिक विचार-विमश के लिए मिलते रहे ।

सतोषप्रद होना चाहिए जिससे कि इसे यथावत् प्रकाशित किया जा सके।

—(आगरा यूनिवर्सिटी पी-एच० डी० नियमावली)

आगे चलकर डॉक्टर ऑफ लैटम्स के प्रमग मे भी प्राय इन्ही विशेषताओ का उल्लेख है—केवल एक बात नयी है। वहाँ 'विषय के अध्ययन को और आगे बढाने' के स्थान पर 'ज्ञान-क्षेत्र का सीमा विस्तार' अपेक्षित माना गया हे। डी० लिट० की उपाधि की गुरुता को देखते हुए यह उपबन्ध उचित ही है। अन्य विश्वविद्यालयो के नियमो मे भी लगभग ये ही शब्द हें। इस प्रकार विश्वविद्यालय विधान के अनुसार अनुमधान के तीन तत्त्व हैं

१—अनुपलब्ध तथ्यो का अन्वेषण

२—उपलब्ध तथ्यो अथवा सिद्धान्तो का नवीन आख्यान (पुनराख्यान)

३—ज्ञान-क्षेत्र का सीमा विस्तार, अर्थात् मौलिकता

४—इनके अतिरिक्त एक तत्त्व ओर भी अपेक्षित है और वह है सुष्ठु प्रनिपादन-शैली।

अनुसधान के इन चार गुणो मे से प्रतिपादन-सौष्ठव तो वाड्मय के प्राय सभी रूपो के लिए ममान है। इस प्रकार अनुसधान के अपने विशिष्ट धम तीन हे —नवीन तथ्यो का अन्वेषण, उपलब्ध तथ्यो या सिद्धान्तो का नवीन आख्यान और ज्ञान की वृद्धि।

आप लोगो की सुविधा के लिए मै सक्षेप मे तथ्यान्वेषण और तथ्याख्यान का अतर और स्पष्ट करना आवश्यक समझता हूँ। सत्य के प्रत्येक रूप के साथ अनेक तथ्य सम्बद्ध रहते हे—मत्य के इस रूप विशेष को स्पष्ट करने के लिए इन आधारभूत तथ्यो की उपलब्धि आवश्यक हें। इनमे से कुछ तथ्य तो विहित (प्रकाशित) रहते है किन्तु अनेक तथ्य प्राय निहित (प्रच्छन्न) रहते है—अथवा काल के आवरण मे लुप्त हो जाते है और उनका अन्वेषण आवश्यक हो जाता है। तथ्यानुमधान प्राय काल सापेक्ष्य सा बन गया है और यह धारणा बद्धमूल हो गई है कि तथ्यानुसधान प्राचीन विषयो की शोध मे ही सम्भव हो सकता है। किन्तु यह माधारणत मान्य होते हुए भी आवश्यक नही है—क्योकि प्रत्येक विषय मे अनेक निहित तथ्य भी तो होते ह। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि तथ्यानुमधान के सामान्यत दो रूप हैं—(१) काल के प्रवाह मे लुप्त तथ्यो का अन्वेषण और (२) विषय मे निहित तथ्यो का अन्वेषण। उदाहरण के लिए, तुलसी के युग की परिस्थितिया, उनके जीवन की घटनाएँ, उनकी रचनाएँ, उन रचनाओ की अनेक प्रतियाँ, उनके निर्माण से सम्बद्ध स्थितियाँ आदि तुलसी-विषयक अनुमधान के प्रनेक बहिरग नथ्य हे जो काल-सापेक्ष्य है—अर्थात् काल

स्थूल रूप है। इसके आगे तुलसी की जीवन-घटनाएँ स्वय तथ्य बन जाती है और फिर अनुसधाता उनकी व्यजनाओ का उद्घाटन करता है–अर्थात् उनके द्वारा व्यजित तुलसी-व्यक्तित्व के गुण-दोषो का प्रकाशन करता है। यह तथ्याख्यान का दूसरा सोपान है। आगे चलकर व्यक्तित्व के ये गुण दोष स्वय तथ्य बन जाते हैं और अनुसन्धाता उनके आधार पर तुलसी की आत्मा का साक्षात्कार करने का प्रयत्न करता है। यह बहिरग तथ्याख्यान की प्रक्रिया है। अन्तरग तथ्याख्यान तुलसी के काव्य को केन्द्र मानकर चलता है—वह तुलसी की रचनाओ का क्रम निर्धारित करता है। उनमे निहित दाशनिक एव नैतिक विचारो का, उनकी शैली के तत्त्वो का, भाषा के तत्त्वो—शब्द समूह आदि का विश्लेषण करता है। यह सब भी वस्तुत तथ्यानुसधान के अन्तगत ही आएगा—भेद केवल इतना है कि ये तथ्य बहिरग न होकर अतरग है, किन्तु है ये तथ्य ही। इनका भी आख्यान उतना ही आवश्यक है अन्यथा ये भी जडवत् है। इनके आख्यान का भी अथ होगा इनकी व्यजनाओ का स्पष्टीकरण। नहछू तथा मगल आदि मानस की पूववर्ती रचनाएँ है और विनयपत्रिका परवर्ती—इस तथ्य की उपलब्धि महत्वपूण है किन्तु साधन रूप मे ही अर्थात् इस तथ्य के द्वारा व्यजित तुलसी के कवित्व विकास का महत्व और भी अधिक है और उससे भी अधिक महत्वपूण है इस क्रम विकास द्वारा व्यजित तुलसी की कवि-आत्मा का विकास। इसी प्रकार तुलसी की काव्य-शैली के तत्त्वो का विश्लेषण तथ्यानुसधान मात्र है, इन तत्त्वो के द्वारा व्यजित तुलसी-काव्य के स्वरूप का अनुसन्धान तथ्याख्यान है उदाहरण के लिए रामनरेश त्रिपाठी की कृति 'तुलसीदास और उनकी कविता' मे तथ्यानुसधान की प्रवृत्ति अधिक है और शुक्लजी की प्रसिद्ध रचना गोस्वामी 'तुलसीदास' मे तथ्याख्यान का प्राधान्य है। तथ्यो के सकलन को देख कर सच्चा अनुसधाता प्रश्न करेगा—इससे क्या ? और फिर उनके आधार पर अपनी आतरिक जिज्ञासा—काव्य के मम के उद्घाटन मे प्रवृत्त हो जाएगा। तुलसी के काव्य मे साधर्म्य मूलक अलकारो की सख्या वैषम्य-मूलक अलकारो से अधिक है—यह एक उपयोगी तथ्य है, इसकी व्यजना यह है कि तुलसी के काव्य मे वैदग्ध्य की अपेक्षा रस की प्रधानता है। आगे चलकर यह भी तथ्य हो जाता है और इस महत्वपूण सत्य को ध्वनित करता है कि तुलसी की कविता का आस्वाद मन शाति-रूप है, बुद्धि-चमत्कृति रूप नही है। इस प्रकार एक तथ्य दूसरे सूक्ष्मतर तथ्य की व्यजना करता हुआ काव्य के मम तक पहुचने मे सहायता देता है—यही तथ्याख्यान है।

विगत ६ वर्षो मे मेरा अनुसधान से व्यावसायिक सम्बन्ध रहा है—अनेक

विषयो के निरीक्षको-परीक्षको के साथ विचार-विनिमय के प्रचुर अवसर मिलते रहे है। इस विचार-विनिमय के अतगत अनुसधान के विषय मे अनेक प्रश्न सामने आये ह। एक बार हिन्दी के एक मान्य विद्वान् ने हमारे एक शोध-विषय 'रीति-काल के प्रमुख आचाय पर आपत्ति करत हुए मुझसे कहा था कि इस पर 'थीसिस कैसे लिखा जाएगा' ? 'थीसिस' से उनका आशय था एक विचार-सूत्र का अनुसन्धान जिसमे प्रमुख आचार्यो को अनेकता बाधक थी। इसी प्रकार शोधमण्डल की किसी बैठक मे इतिहास के एक विद्वान् ने हिन्दी के एक प्रस्तावित विषय 'हिन्दी काव्य के विकास मे सिख कवियो का योगदान' के प्रति जिज्ञासा व्यक्त की कि इसके अन्तगत अनुसन्धाता क्या शाध करेगा। मने उत्तर दिया कि यह सम्पूरण सामग्री अभी तक सवथा अज्ञात है—पहला शोधकर्ता इसका आलोचनात्मक सर्वेक्षण प्रस्तुत करगा परवर्ती अनुसधाता उसके आधार पर अन्तरग विश्लेषण करेगे। मेरे उत्तर पर अनेक अनुभवी निरीक्षको की प्रतिक्रिया यह हुई कि आलोचनात्मक सर्वेक्षण अनुसधान नही है—स्थिति स्पष्ट करने पर उन्होने यह मान लिया कि सिख-कवियो के ग्रन्थो का पाठानुसन्धान और सम्पादन तो अनुसधान के अतगत आ सकता है किन्तु आलोचनात्मक सर्वेक्षण नही—सर्वेक्षण तो अनुसधान की मूल प्रकृति के विरुद्ध है। ये दोनो ही प्रसग अनुसधान के स्वरूप पर यथेष्ट प्रकाश डालते है। अँगरेज़ी का एक शब्द है 'थीसिस' जो सस्कृत न्यायशास्त्र के 'प्रतिज्ञा' शब्द का निकटवर्ती है,—इसका अर्थ है कोई मौलिक प्रस्थापना विशेष जिसको अनुगमन या निगमन-विधि से सिद्ध किया जाता है। अनेक विद्वानो के अनुसार शोध प्रबन्ध का प्राण यह प्रतिज्ञा और इसकी सिद्धि ही हे—इसीलिए अँगरेज़ी मे शोध प्रबन्ध के लिए 'थीसिस' शब्द का प्रयोग ही रूढ हो गया है। इसमे सदेह नही कि उत्तम शोध-प्रबन्ध मे किसी न किसी प्रकार की प्रतिज्ञा और उसकी सिद्धि होनी चाहिए, उससे अनुसधित विषय का सूत्र और उसी अनुपात से उपलब्ध सत्य का स्वरूप सवथा स्पष्ट हो जाता हे। किन्तु इसकी सम्भावना सवत्र नही हे। वास्तव मे इस प्रकार का अनुसधान उन्ही क्षेत्रो मे सम्भव है जहाँ अध्ययन काफी विकसित हो चुका है जहा प्रारम्भिक कार्य ही नही—व्यवस्थित अध्ययन भी हो चुका है। उदाहरण के लिए हिन्दी के सगुण भक्तिकाल, रीतिकाल तथा आधुनिक काल के अनेक कवियो पर इतना काय हो चुका है कि इस प्रकार की प्रतिज्ञात्मक शोध के लिए अब भूमि तैयार हो चुकी है और इस प्रकार का अनुसन्धान कार्य हो भी रहा है। पिछले वर्ष दो शोध प्रबध मैंने देखे—एक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर था और दूसरा बिहारी पर। एक मे यह प्रस्थापना की गई थी कि आचाय

शुक्ल का मूल जीवन दर्शन है भावयोग और उनका सम्पूर्ण वाङ्मय आलोचना, निबन्ध, कविता आदि इसी भावयोग के दर्शन से अनुप्राणित है। दूसरे मे यह प्रस्थापना की गई थी कि बिहारी का काव्य ध्वनिकाव्य है और उसी के प्रकाश मे सम्पूर्ण काव्य का आख्यान किया गया था। निश्चय ही यह अनुसधान की उच्चतर भूमि है—यहाँ शोधकर्ता अनेकता मे एकता के अनुसधान का सीधा प्रयत्न करता है। अनेकता मे एकता की सिद्धि का नाम ही सत्य है—इसी का अर्थ है आत्मा का साक्षात्कार। अत शोध का यह रूप सत्य की उपलब्धि अथवा आत्मा के साक्षात्कार के अधिक से अधिक निकट है। किन्तु साधना की उच्चतर भूमि सदा कठिन होती है, अत यहाँ भी शोधक को अत्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के अनुसधान मे यह आशका सदा रहती है कि मूल प्रतिज्ञा ही कहीं अशुद्ध न हो या शोधक प्रतिज्ञा के प्रति दुराग्रही होकर तथ्यो को विकृत रूप मे पेश न करे या उनकी विकृत व्याख्या न करने लगे। ऐसा प्राय सम्भव है और इसीलिए यह शोध-पद्धति अधिक वस्तुपरक नही मानी गई। वस्तुपरक शोध पद्धति का मूल सिद्धान्त यह है कि तथ्य ही शोधक का अनुशासन करे, शोधक तथ्यो का शासन न करे। स्पष्टत उपर्युक्त प्रणाली मे दूसरी बात का खतरा बराबर बना रहता है। किन्तु साधना की उच्चतर भूमि तो खतरे से खाली कभी रही ही नही।

अनुसधान का तीसरा प्रमुख तत्व है ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार। वास्तव मे यही उसका प्राण-तत्त्व अथवा व्यावर्तक धर्म है। नवीन तथ्यो की उपलब्धि, उपलब्ध तथ्यो अथवा सिद्धान्तो का नवीन आख्यान—ये दोनो तत्त्व इसी सिद्धि के साधन है। इनमे से कोई एक तत्त्व या सभी तत्व मिलकर अनत ज्ञान की वृद्धि करते है—यह ज्ञान की वृद्धि ही वास्तव मे अनुसधान का मूल उद्देश्य है। अन्य गुण जैसे व्याख्या, विवेचन, सप्रेषण, प्रतिपादन-सौष्ठव आदि भी अनुसधान के महत्वपूर्ण धर्म हैं, किन्तु वे व्यावर्तक धर्म नही है क्योकि एक तो उनके अभाव मे भी अनुसधान हो सकता है और दूसरे अध्ययन के अन्य क्षेत्रो मे भी उनका उतना ही वरन् इससे भी अधिक महत्व है। इसके विपरीत ज्ञानवृद्धि के अभाव मे अनुसधान का स्वरूप खण्डित हो जाता है—ऐसा विवेचन या प्रतिपादन जो ज्ञानवृद्धि मे सहायक न हो अनुसधान की परिधि मे नही आयेगा या कम से कम शुद्ध अनुसधान के अतर्गत नही माना जायेगा। विचार या भाव का सप्रेषण अपने आप मे साहित्यिक अध्ययन का अत्यन्त महत्वपूर्ण अग है—एक दृष्टि से उसका सर्वाधिक मूल्य है किन्तु वह निरपेक्ष रूप मे अनुसधान के

क्योकि तथ्यो के पुष्ट आधार के बिना आलोचना मे विश्वास की दृढता नही आती ।

यह सब होने पर भी अनुसधान और आलोचना पर्याय नही है। मनोविज्ञान से पुष्ट सस्कृत व्याकरण का यह नियम है कि कोई भी दो शब्द एक अथ का द्योतन नही करते—उनमे कुछ न कुछ भेद अवश्य होता है । अनुसधान की मूल धातु 'धा' है, उसमे सम् उपसग लगाकर सधान शब्द बनता है जिसका अथ होता हे लक्ष्य बाधना, निशाना लगाना। और आलोचना की मूल धातु हे 'लुच्' अर्थात् देखना । इसी मूल धात्वथ के आधार पर दोनो के रूढ अथ मे आगे चलकर भेद हो जाता है—एक का अथ हो जाता है लक्ष्य बाधकर उसके पीछे बढना और दूसरे का हो जाता है पूरी तरह से देखना-परखना । यही दोनो के मौलिक भेद का आधार है। अनुसधान मे अन्वेषण पर अधिक बल हे और आलोचना मे निरीक्षण-परीक्षण पर । यद्यपि ये दोनो तत्त्व भी एक दूसरे से निरपेक्ष नही है—अन्वेषण बिना निरीक्षण परीक्षण के कृतकाय नही हो सकता, और इसी तरह निरीक्षण-परीक्षण के भी पूव क्रिया रूप मे अन्वेषण की आवश्यकता प्राय रहती है, फिर भी अनुसधान और आलोचना का क्षेत्र पूणत सह-व्यापक नही है । अनुसधान के अनेक रूप ऐसे है जो शुद्ध आलोचना के अतगत नही आते और आलोचना के भी कुछ रूपो को शुद्ध अनुसधान मानने मे वास्तविक आपत्ति हो सकती है। उदाहरण के लिए जीवनचरित विषयक अनुसधान, पाठानुसधान, भाषावैज्ञानिक अनुसधान आदि रूप आलोचना के अतगत नही आ सकते । इसका अभिप्राय यह नही है कि इनमे आलोचना का अभाव रहता है अथवा इन क्षेत्रो का अनुसधाता आलोचन शक्ति एव निणय की क्षमता से सम्पन्न नही होता वास्तव मे इन सभी क्षेत्रो मे भी निरीक्षण-परीक्षण, निष्कष-ग्रहण आदि उतने ही महत्वपूण हैं जितने अन्यत्र, परन्तु आलोचना का प्रयोग यहाँ हम साहित्यिक आलोचना (लिटरेरी क्रिटिसिज़्म) के अथ मे ही कर रहे है, सामान्य अथ मे अर्थात् सामान्य निरीक्षण परीक्षण के अथ मे नही। इसी प्रकार आलोचना के कुछ एक रूप भी है जैसे प्रभाववादी आलोचना के विभिन्न प्रकार, जो अनुसधान की गरिमा को वहन नही कर सकते । अतएव यह स्पष्ट है कि अनुसधान और आलोचना के क्षेत्रो मे पूण सहव्याप्ति नही है ।

नही उस समय मैने क्या उत्तर दिया था, किन्तु आज मेरे मन मे इसका उत्तर स्पष्ट है आलोचना (अर्थात् साहित्यिक आलोचना) कला का विज्ञान है। विशिष्ट शब्दावली मे आलोचना न तो उस अर्थ मे रस का साहित्य है जिस अर्थ मे कविता, उपन्यास, कहानी आदि है और न उस अर्थ मे ज्ञान का साहित्य है जिस अर्थ म दर्शनशास्त्र या मनोविज्ञान-शास्त्र या तर्कशास्त्र हैं। यह तो अपने प्रामाणिक रूप मे रस के साहित्य का शास्त्रीय या वैज्ञानिक अध्ययन है। विषय का प्रभाव उसके विवेचन पर सवथा अनिवाय होता है—अर्थात् किसी विषय का विवेचन और उसकी विचार पद्धति उसके आत्मभूत तत्त्वो के प्रभाव को ग्रहण किये बिना रह नही सकती क्योकि विषय के तत्व, उसका लक्ष्य आदि उसकी विवेचन पद्धति को भी अनिवायत अनुशासित करते रहते है। साहित्य के तत्त्व है अनुभूति और कल्पना—उसका प्राण है रस, अत साहित्य की विवेचन-पद्धति उसके अगभूत अनुभूति तथा कल्पना और प्राणभूत रस के प्रभाव को बचा नही सकती। अतएव उसमे भी कला के तत्त्व—अर्थात् रस और उसके उपकरण अनुभूति तथा कल्पना आदि का अतर्भाव अनिवार्यत हो ही जाता है। इस प्रकार आलोचना मे कला-तत्त्व अनिवायत विद्यमान रहता है, उसमे आत्माभिव्यक्ति किसी न किसी रूप मे अवश्य रहती है। अनुसधान के विषय मे यह प्रश्न नही किया जा सकता कि वह कला है या शास्त्र—वह निश्चय ही शास्त्र है, कला की उसके लिए उतनी ही अपेक्षा है जितनी शास्त्र के लिए क्योकि शास्त्र की भी अपनी एक कला होती है, एक शैली होती है जो वाड्मय के अन्य रूपो से उसके रूप वैशिष्ट्य को पृथक् करती है। अनुसधान के उपबध ४ मे निर्दिष्ट 'उपयुक्त' अथवा 'सतोषप्रद' रूप आकार का अभिप्राय इतना ही है, इससे अधिक नही उदाहरण के लिए निबध की ललित गद्यशैली अनुसधान के लिए न 'उपयुक्त' होगी और न 'सतोषप्रद'। निष्कर्ष यह है कि **आत्माभिव्यक्ति अथवा कला-तत्त्व साहित्यिक आलोचना का अनिवाय गुण है, किन्तु साहित्यिक अनुसधान मे उसका महत्व गौण ही रहेगा।**

इसके विपरीत तथ्यान्वेषण, तथ्यो का वस्तुपरक आख्यान, वैज्ञानिक प्रविधि एव प्रक्रिया अनुसधान के लिए महत्वपूर्ण ही नही है, वरन् ये तो उसके प्राण-तत्त्व हैं। किसी न किसी प्रकार के—बहिरग अथवा अतरग तथ्यो के सम्यक् अन्वेषण के बिना अनुसधान एक पग भी आगे नही बढ सकता। फिर इन तथ्यो के आख्यान मे अनुसधाता की दृष्टि एकात वस्तुपरक होनी चाहिए जिससे तथ्य ही उसका निर्देशन करे वह तथ्यो का निर्देशन न करे। यो तो आलोचना के लिए भी निर्लिप्त दृष्टि की बडी आवश्यकता है किन्तु अनुसधान

अतगत नही आयगा। अत निष्कष यह ह कि ज्ञानवृद्धि ही अनुसधा
व्यावतक धम है।

'आलोचना' का शब्दाथ है सर्वाग निरीक्षरण। साहित्य के क्षेत्र मे आल
स अभिप्राय है किसी साहित्यिक कृति का सागोपाग निरीक्षरण, इसके अ
तीन कतव्य-कम आते ह—(१) प्रभाव ग्रहरण, (२) व्याख्या-विश्लेषरण
(३) मूल्याकन अथवा निरणय। आलोचना मूलत कलाकृति द्वारा प्रमा
हृदय मे उत्पन्न प्रभाव को व्यक्त करती है, अर्थात् प्रिय-अप्रिय प्रतिक्रि
व्यक्त करती है। इसके उपरान्त वह प्रतिक्रिया की प्रियता अथवा अप्रिय
कारणो का विश्लेषरण करती है। सौदय शास्त्र के अनुसार रूप का, मनो
के अनुसार स्रष्टा और भावक की मानसिक परिस्थितियो और समाजशा
अनुसार दोनो की सामाजिक परिस्थितियो का विश्लेषरण कर यह स्पष्ट
है कि कोई कलाकृति भावक को प्रिय अथवा अप्रिय क्यो लगती है। औ
मे इन दोनो प्रतिक्रियाओ के आधार पर उसका मूल्याकन किया जात
आलोचना के अन्तगत ये तीन प्रतिक्रियाये आती है—किसी न किसी र
आलोचना इन तीनो कतव्यो का निर्वाह करती है, अवधारणा का भेद हो
है किन्तु समालोचना मे प्राय इन तीनो मे से किसी की उपेक्षा करना
ही होता है।

अनुसधान और आलोचना का परस्पर सम्बन्ध

उपयुक्त विवेचन स स्पष्ट है कि अनुसधान और आलोचना दोनो की
जाति ही नही, उपजाति भी एक हे। अत दोनो मे पर्याप्त साम्य है।
की पद्धति बहुत-कुछ समान ह व्याख्या-विश्लेषरण और निरणय दोनो मे
हैं। अनुसधान मे जो तथ्याख्यान है वही आलोचना मे व्याख्या-विश्लेष
दोनो मे विवेचन, काय-कारण-सूत्र का अन्वेषरण, परस्पर सम्बन्ध तथा
व्यजना आदि का उद्घाटन समान रूप से रहता है। इसी प्रकार पक्ष वि
सतुलन आदि के आधार पर निष्कष और निरणय की पद्धति भी दोनो म
समान ही है। तथ्य-विश्लेषरण के उपरान्त तत्त्व-रूप मे निष्कष ग्रहरण
सवथा आवश्यक होता है—उसके बिना तथ्य-विश्लेषरण का कोई अथ ह
रह जाता। अत निष्कष तथा निर्णय का महत्व अनुसधान और आल
दोनो के लिए समान रूप से मान्य ह, उसके बिना विचार की प्रक्रिया पूरी
होती। तथ्याधार अनुसधान के लिए एकान्त अनिवाय तो है ही,
आलोचना के लिए भी उसकी आवश्यकता का निषेध नही किया जा

क्योकि तथ्यो के पुष्ट आधार के बिना आलोचना मे विश्वास की दृढता नही आती ।

यह सब होने पर भी अनुसधान और आलोचना पर्याय नही है। मनोविज्ञान से पुष्ट सस्कृत व्याकरण का यह नियम है कि कोई भी दो शब्द एक अर्थ का द्योतन नही करते—उनमे कुछ न कुछ भेद अवश्य होता है। अनुसधान की मूल धातु 'धा' है, उसमे सम् उपसग लगाकर सधान शब्द बनता है जिसका अथ होता हे लक्ष्य बाधना, निशाना लगाना। और आलोचना की मूल धातु हे 'लुच्' अर्थात् देखना। इमी मूल धात्वथ के आधार पर दोनो के रूढ अथ मे आगे चलकर भेद हो जाता है—एक का अथ हो जाता है लक्ष्य बाँधकर उसके पीछे बढना और दूसरे का हो जाता है पूरी तरह से देखना-परखना। यही दोनो के मौलिक भेद का आधार है। अनुसधान मे अन्वेषण पर अधिक बल हे और आलोचना मे निरीक्षण-परीक्षण पर। यद्यपि ये दोनो तत्त्व भी एक-दूसरे से निरपेक्ष नही हे—अन्वेषण बिना निरीक्षण परीक्षण के कृतकाय नही हो सकता, और इसी तरह निरीक्षण-परीक्षण के भी पूव क्रिया रूप मे अन्वेषण की आवश्यकता प्राय रहती है, फिर भी अनुसधान और आलोचना का क्षेत्र पूणत सह-व्यापक नही है। अनुसधान के अनेक रूप ऐसे है जो शुद्ध आलोचना के अतगत नही आते और आलोचना के भी कुछ रूपो को शुद्ध अनुसधान मानने मे वास्तविक आपत्ति हो सकती है। उदाहरण के लिए जीवनचरित-विषयक अनुसधान, पाठानुसधान, भाषावैज्ञानिक अनुसधान आदि रूप आलोचना के अतगत नही आ सकते। इसका अभिप्राय यह नही है कि इनमे आलोचना का अभाव रहता है अथवा इन क्षेत्रो का अनुसधाता आलोचन शक्ति एव निणय की क्षमता से सम्पन्न नही होता वास्तव मे इन सभी क्षेत्रो मे भी निरीक्षण-परीक्षण, निष्कर्ष-ग्रहण आदि उतने ही महत्वपूण हैं जितने अन्यत्र, परन्तु आलोचना का प्रयोग यहाँ हम साहित्यिक आलोचना (लिटरेरी क्रिटिसिज्म) के अथ मे ही कर रहे है, सामान्य अथ मे अर्थात् सामान्य निरीक्षण परीक्षण के अर्थ मे नही। इसी प्रकार आलोचना के कुछ-एक रूप भी हैं जैसे प्रभाववादी आलोचना के विभिन्न प्रकार, जो अनुसधान की गरिमा को वहन नही कर सकते। अतएव यह स्पष्ट है कि अनुसधान और आलोचना के क्षेत्रो मे पूर्ण सहव्याप्ति नही है।

अपने मतव्य को और स्पष्ट करने के लिए पारिभाषिक अथ मे आलोचना के स्वरूप को और स्पष्ट कर लेना चाहिए। मुझे स्मरण है कि एक बार हमारे किसी प्रश्नपत्र मे एक सवाल था 'आलोचना विज्ञान है या कला ?' मुझे याद

नही उस समय मैने क्या उत्तर दिया था किन्तु आज मेरे मन मे इसका उत्तर स्पष्ट है आलोचना (अर्थात् साहित्यिक आलोचना) कला का विज्ञान है। विशिष्ट शब्दावली मे आलोचना न तो उस अथ मे रस का साहित्य है जिस अथ मे कविता, उपन्यास, कहानी आदि है और न उस अथ मे ज्ञान का साहित्य है जिस अथ म दशनशास्त्र या मनोविज्ञान-शास्त्र या तकशास्त्र है। यह तो अपने प्रामाणिक रूप मे रस के साहित्य का शास्त्रीय या वैज्ञानिक अध्ययन है। विषय का प्रभाव उसके विवेचन पर सवथा अनिवाय होता है—अर्थात् किसी विषय का विवेचन और उसकी विचार पद्धति उसके आत्मभूत तत्त्वो के प्रभाव को ग्रहण किये बिना रह नही सकती क्योकि विषय के तत्व, उसका लक्ष्य आदि उसकी विवेचन पद्धति को भी अनिवायत अनुशासित करते रहते है। साहित्य के तत्त्व है अनुभूति और कल्पना—उसका प्राण है रस, अत साहित्य की विवेचन-पद्धति उसके अगभूत अनुभूति तथा कल्पना और प्राणभूत रस के प्रभाव को बचा नही सकती। अतएव उसमे भी कला के तत्त्व—अर्थात् रस और उसके उपकरण अनुभूति तथा कल्पना आदि का अनभाव अनिवायत हो ही जाता है। इस प्रकार आलोचना मे कला-तत्त्व अनिवायत विद्यमान रहता है, उसमे आत्माभिव्यक्ति किसी न किसी रूप मे अवश्य रहती है। अनुसधान के विषय मे यह प्रश्न नही किया जा सकता कि वह कला है या शास्त्र—वह निश्चय ही शास्त्र है, कला की उसके लिए उतनी ही अपेक्षा है जितनी शास्त्र के लिए क्योकि शास्त्र की भी अपनी एक कला होती है, एक शैली होती है जो वाडमय के अन्य रूपो से उसके रूप वैशिष्ट्य को पृथक् करती है। अनुसधान के उपबध ४ मे निर्दिष्ट 'उपयुक्त' अथवा 'सतोषप्रद' रूप आकार का अभिप्राय इतना ही है, इससे अधिक नही उदाहरण के लिए निबध की ललित गद्यशैली अनुसधान के लिए न 'उपयुक्त' होगी और न 'सतोषप्रद'। निष्कष यह है कि **आत्माभिव्यक्ति अथवा कला-तत्त्व साहित्यिक आलोचना का अनिवाय गुण है, किन्तु साहित्यिक अनुसधान मे उसका महत्व गौण ही रहेगा।**

इसके विपरीत तथ्यान्वेषण, तथ्यो का वस्तुपरक आख्यान, वैज्ञानिक प्रविधि एव प्रक्रिया अनुसधान के लिए महत्वपूर्ण ही नही है, वरन् ये तो उसके प्राण-तत्त्व हैं। किसी न किसी प्रकार के—बहिरग अथवा अतरग तथ्यो के सम्यक् अन्वेषण के बिना अनुसधान एक पग भी आगे नही बढ सकता। फिर इन तथ्यो के आख्यान मे अनुसधाता की दृष्टि एकात वस्तुपरक होनी चाहिए जिससे तथ्य ही उसका निर्देशन करें वह तथ्यो का निर्देशन न करे। यो तो आलोचना के लिए भी निर्लिप्त दृष्टि की बडी आवश्यकता है किन्तु अनुसधान

के लिए वह सवथा अनिवाय है। अनुसधान का माग एकात तपश्चर्या का माग है, उसके लिए अधिक कठोर सयम का विधान है। आलोचना के लिए इतने कठोर बौद्धिक ब्रह्मचय की आवश्यकता कदाचित् नही है आत्मरस का यत्किचित सस्पश उसके लिए एकात वर्जित नही है। इसी प्रकार वैज्ञानिक प्रविधि एव पक्रिया अनुसधान के लिए सवथा अनिवाय है सदभ आदि के पूण विवरण, अनुक्रमणिका, परिशिष्ट, ग्रन्थ सूची, पाद-टिप्पणिया आदि की व्यवस्था इसी प्रविधि के अतगत आती है। वास्तव मे यह प्रविधि या शिल्प-विधान आलोचना के लिए भी अनुपयोगी नही है, किन्तु वहाँ इसका उतना अनिवाय महत्व नही है। शुद्ध आलोचना मे आलोच्य की आत्मा के साक्षात्कार के प्रति लेखक और पाठक का इतना आग्रह रहता है कि इस प्रकार के स्थूल तथ्य विवरण की वह उपेक्षा कर सकता है वस्तुत इनसे उसका अवधान भग होने की भी सभावना हो सकती है।

अनुसधान और आलोचना का प्रत्यक्ष उद्देश्य भी एक नही होता—अनुसधान का लक्ष्य, जैसा कि हमने अभी सिद्ध किया, ज्ञान वृद्धि है, किन्तु आलोचना का लक्ष्य है ज्ञान की अवगति। जो अनुसधान ज्ञान की वृद्धि मे योग नही देता वह विधानत असफल है, किन्तु आलोचना के लिए इतना पर्याप्त नही है—जो आलोचना काव्य की आत्मा का साक्षात्कार नही करा सकती अर्थात् उसके सारभूत प्रभाव का सम्प्रेषण नही कर सकती, कलाकार के साथ प्रमाता का तादात्म्य स्थापित नही कर सकती वह अपने मौलिक उद्देश्य की पूर्ति मे असफल रहती है। प्रत्यक्ष 'फलागम' के इसी भेद के कारण दोनो के 'आरम्भ' मे भी स्पष्ट भेद हो जाता है। 'आलोचक का पहला धम है प्रभाव-ग्रहण अर्थात् आलोच्य के प्रति रागात्मक प्रतिक्रिया।' अनुसधाता के लिए वह आवश्यक नही है—प्राय बाधक भी हो सकती है, वह अपना कार्यारम्भ तथ्य सकलन से करता है जिसमे उसकी दृष्टि निर्लेप रहनी चाहिए। इस प्रकार अनुसधान और आलोचना के आरम्भ और फलागम मे बाह्य भेद अवश्य है।

अब तक मैने अत्यन्त तटस्थ भाव से अनुसधान और आलोचना के साम्य और वैषम्य का निरूपण किया है। यदि आपको आपत्ति न हो तो सक्षेप मे अपने निष्कर्षों की आवृत्ति कर दू जिससे आगे के विवेचन मे सहायता मिल सके।

साम्य (१) साहित्यिक अनुसधान और साहित्यिक आलोचना एक ही विद्या—साहित्य-विद्या—के दो उपभेद हैं। (२) दोनो की पद्धति बहुत-कुछ समान है। दोनो की प्रक्रिया मे तथ्यो के सकलन—त्याग एव ग्रहण, व्याख्यान-

विश्लेषण, निष्कष ग्रहण का प्राय उपयोग किया जाता है।

वैषम्य —(१) किन्तु अनुमधान और आलोचना पर्याय नही है—धात्वथ के अनुरूप अनुसधान मे अन्वेषण पर अधिक बल रहता है और आलोचना मे निरीक्षण-परीक्षण पर।

(२) अनुसधान के अनेक रूप ऐसे है जो आलोचना के अतगत नही आते और इसी प्रकार आलोचना के भी कतिपय रूप अनुसधान के उपबधो की पूर्ति नही कर पाते।

(३) आत्माभिव्यक्ति अथवा कला-तत्त्व आलोचना का अनिवार्य गुण है, किन्तु अनुसधान मे उसका महत्त्व गौण ही रहेगा।

(४) वैज्ञानिक तटस्थता और उसकी अनुवर्ती वैज्ञानिक प्रविधि एव प्रक्रिया का महत्व अनुसधान के लिए अनिवाय है—आलोचना के लिए उसका महत्व परिशिष्ट रूप मे ही रहता है।

(५) अनुसधान का प्रत्यक्ष (एपेरेंट) उद्देश्य है ज्ञान की वृद्धि और आलोचना की सिद्धि है मम की अवगति या अनुभूति।

मुझे आशा है कि इस भेदाभेद-निरूपण से दोनो के विषय मे आपकी सापेक्षिक धारणाएँ और मानस-बिम्ब थोडे बहुत स्पष्ट अवश्य हो गए होगे। किन्तु यह तो पूवपक्ष है, या आप यह कह सकते है कि यह हमारे आज के प्रतिपाद्य का तथ्याधार मात्र है। उत्तरपक्ष मैं अपने से और आपसे एक प्रश्न करता हूँ क्या शुद्ध आलोचना अनुसधान नही है? यह प्रश्न एक दूसरे ढग से भी रखा जा सकता है क्या उत्तम आलोचना अनिवायत उत्तम अनुसधान नही है? अथवा क्या उत्तम साहित्यिक अनुसधान अपनी चरम परिणति मे आलोचना से भिन्न ही रहता है? साहित्यशास्त्र का विद्यार्थी होने के नाते मेरे पास इसका एक ही उत्तर है और वह यह कि उत्तम आलोचना अनिवायत उत्तम अनुसधान भी है और उत्तम साहित्यिक अनुसधान अपनी चरम परिणति मे आलोचना से अभिन्न हो जाता है। हिन्दी मे जायसी ग्रन्थावली की भूमिका उत्तम आलोचना का असन्दिग्ध प्रमाण है और साहित्यिक अनुसधान का भी मै उसे निश्चय ही अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण मानता हूँ। यहाँ तो तथ्याधार भी अत्यन्त पुष्ट है इसलिए विवाद के लिए अवकाश कम है। शुक्लजी के सैद्धातिक निबन्धो को ही लीजिए। क्या हिन्दी काव्यशास्त्र के विकास मे उनका अत्यन्त मौलिक योगदान किसी प्रकार सदिग्ध हो सकता है? अर्थात् क्या उनका शोध-मूल्य किसी प्रकार कम है? आप कदाचित् हिन्दी के एक अन्य मान्य आलोचक का प्रमाण देकर मुझे निरुत्तर करना चाहेगे। ये आलोचक हैं शान्तिप्रिय

द्विवेदी। वे निश्चय ही साहित्य के मर्मी आलोचक है किन्तु आप औचित्य-पूर्वक उनके सफल अनुसधाता होने मे शका कर सकते हैं। इसके उत्तर मे मेरा निवेदन है कि शान्तिप्रिय जी की जिन रचनाओ का शोध-महत्व सदिग्ध है उनका आलोचनात्मक मूल्य भी सवथा निर्विवाद नही है। प्रभाव-ग्रहण आलोचना का प्राथमिक धम होने पर भी, प्रभाववादी आलोचना प्राय निम्नकोटि की आलोचना ही मानी जाती है। शान्तिप्रिय अपने चित्त को सयत और दृष्टि को स्थिरकर जहाँ आधुनिक काव्य—विशेषत छायावाद काव्य—के मम का उन्मेष करने मे सफल हुए है वहाँ उनकी आलोचनाओ का शोध-मूल्य भी असदिग्ध है। छायावादी सौन्दय दृष्टि की विवृति अपने आप मे महत्वहीन अनुसधान नही है। अब दूसरा पक्ष लीजिए। मैं आप से किसी ऐसे शोध-प्रबन्ध का नाम पूछना चाहूँगा जो आलोचनात्मक गुणो के अभाव मे भी उत्तम अनुसधान का प्रमाण हो। आप भाषा-विज्ञान अथवा ऐतिहासिक अनुसधान के क्षेत्र से कदाचित् कुछ उदाहरण उपस्थित करेगे किन्तु मैं तो साहित्यिक अनुसधान की बात कर रहा हूँ। साहित्यिक अनुसधान के क्षेत्र से भी शायद आप इस प्रकार के शोध-प्रबन्धो के नाम लेना चाहे। विशिष्ट उदाहरण न देकर इस प्रसग मे सामान्य रूप से मैं यही निवेदन करना चाहूँगा कि इस प्रकार के अकाट्य प्रमाण प्राय दुलभ ही है। ऐसे प्रबन्ध, जिनका मूल्य केवल तत्त्व-शोध पर आधृत है, उत्तम अनुसधान न होकर अनुसधान के सदभ-ग्रथो के रूप मे ही मान्यता प्राप्त कर सकेंगे। पश्चिम मे, और वहाँ के अनुकरण पर इस देश मे भी, ऐसे ग्रथो का महत्व बढ रहा है। मैं इसका निषेध नही करता किन्तु ये सब तो अनुसधान की सामग्री या साधन मात्र है। हिन्दी मे ऐसे महत्वपूर्ण ग्रथ है जिनके द्वारा प्रचुर नवीन सामग्री प्रकाश मे आई है। उनसे हिन्दी-साहित्य और उसके अनुसधाता का निश्चय ही बडा कल्याण हुआ है किन्तु कृपया उन्हे आदश अनुसधान मानने का आग्रह न कीजिए। ये तो उत्तम अनुसधान के प्रारूप हैं। तत्त्व दृष्टि से यदि हम विचार करे तो विद्या के सभी भेदो का एक ही उद्देश्य निर्धारित किया जा सकता है और वह है सत्य की उपलब्धि। तथ्य और सत्य मे यह भेद है कि एक केवल बोध का विषय है और दूसरा अनुभूति का। बोध का अर्थ है ऐन्द्रिय अथवा बौद्धिक प्रत्यय और अनुभूति का अथ है मर्म का साक्षात्कार। मम के साक्षात्कार के लिए तथ्य बोध से आगे चलकर तथ्य के द्वारा व्यजित सत्य की अवगति आवश्यक है। यही आलोचना की परम परिणति है और मेरा आग्रह है कि अनुसधान की चरम परिणति भी यही होनी चाहिए। तद्विषयक विधान के उपबध मे तथ्यो या सिद्धान्तो के नवीन

आख्यान के अतगत यद्यपि इसका उल्लेख विकल्प-रूप मे किया गया है किन्तु उसकी शब्दावली से निर्विवाद है कि यह अनुसधान की उच्चतर भूमि है। इस लक्ष्य की सिद्धि के बिना अनुसधान कवल तथ्य-बोध का साधन होकर रह जाता है, सत्य की सिद्धि का माध्यम नही।—तब फिर उसकी गणना विद्या के अतगत न होकर उपविद्या के अतगत ही करनी चाहिए। मुझे विश्वास है कि प्रकृति और व्यवसाय दोनो से अनुसधाता होने के नाते आपको अनुसधान की यह अधोगति स्वीकाय नही होगी।

अनुसधान के क्षेत्र मे आलोचना के इस विरोध का एक इतिहास है। लगभग १५-२० वष पूव जब हिन्दी मे अनुसधान का काय विधिवत् आरम्भ हुआ, उस समय साहित्य समीक्षा के क्षेत्र मे आचाय रामचन्द्र शुक्ल का एकाधिपत्य था। शुक्ल जी की आलोचना-पद्धति मे तत्त्व-दशन के प्रति इतना प्रबल आग्रह था कि वे तथ्यो की चिंता अधिक नही करते थे। उनके इतिहास तथा भूमिकाओ एव सैद्धातिक निबधो मे तथ्याधार स्पष्टत दुबल है। वस्तुत आत्मा का अनुसधान ही उनका ध्येय रहता था—तथ्यो के सकलन और साख्य की पद्धति के अवलम्बन के प्रति उनकी रुचि नही थी। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि जायसी, सूर और तुलसी के काव्य के जिन मार्मिक रहस्यो का उद्घाटन वे अपनी सक्षिप्त भूमिकाओ मे कर गए है, परवर्ती अनुसधाताओ के विशालकाय ग्रथ आज तक उनमे कोई आश्चयजनक अभिवृद्धि नही कर पाये हैं—बिहारी, घनानन्द, आदि कवियो के विषय मे चिंतन के जो सूक्ष्म तत्त्व वे अपने इतिहास मे निकालकर रख गये हैं, परवर्ती अनुसधाता अब तक तथ्यो के आधार पर या तो उनकी पुष्टि कर रहे है या विस्तार। वास्तव मे मूल अनुसधेय क्या है—तत्त्व ही न ? इस तत्त्व-शोध की सामान्यत दो विधियाँ है एक दशन की, दूसरी विज्ञान की। पहली की गति ऋजु और त्वरित है—वह लक्ष्य पर सीधा आक्रमण करती है, दूसरी का आधार अधिक दृढ और पुष्ट है किन्तु गति मन्थर एव विलम्बित है। दोनो के अपने गुण-दोष है पहली के परिणाम शीघ्रगम्य है किन्तु भ्रातिपूण भी हो सकते है, दूसरी मे भ्राति की आशका अपेक्षाकृत बहुत कम है किन्तु उसमे एक बडी आशका यह है कि अनुसधाता की दृष्टि तथ्य-जाल मे उलझ जाती है और तत्त्व की उपेक्षा हो जाती है—तथ्यो के तक्र के स्वाद मे तत्त्व के नवनीत का स्वाद भूल जाता है। शुक्लजी के अनुसधान मे पहली पद्धति के गुण-दोष थे। लगभग उन्ही दिनो हमारे कुछ-एक विद्वान विदेश से शोध-कार्य कर लौटे थे जहाँ वैज्ञानिक पद्धति का साहित्यिक अनुसधान के क्षेत्र मे भी यथावत्

प्रयोग हो रहा था। यहाँ आकर इन्होने देखा कि हिन्दी अनुसधान के क्षेत्र मे इसका सवथा अभाव था, उसकी प्रविधि और प्रक्रिया अत्यन्त अपूर्ण और अव्यवस्थित थी। फलत डॉ० धीरेन्द्र वर्मा आदि ने वैज्ञानिक पद्धति को हिन्दी शोध के क्षेत्र मे भी प्रतिफलित करने का व्यवस्थित प्रयत्न किया और एक नवीन शोध-प्रणाली का आविर्भाव हुआ जो प्रचलित प्रणाली के साथ सघष मे आने लगी। उसी सघष से इस नारे का जन्म हुआ कि अनुसधान आलोचना नही है। इस पृथक्करण से लाभ और हानि दोनो ही हुए। लाभ तो यह हुआ कि अनुसधान मे तथ्यान्वेषण का महत्व बढा—पुष्ट तथ्याधार से विवेचना मे प्रामाणिकता और प्रत्यय-शक्ति का विकास हुआ। प्रविधि और प्रक्रिया मे वैज्ञानिक व्यवस्थिति एव पूर्णता आई। दृष्टि को निस्सग निरीक्षण की क्षमता प्राप्त हुई। व्यक्तिगत रुचि वैचित्र्य का सयमन और उससे प्रभावित अशुद्ध निष्कषण की प्रवृत्ति का नियन्त्रण हुआ। इससे न केवल हिन्दी अनुसधान का वरन् हिन्दी आलोचना का भी कल्याण हुआ किन्तु हानि भी कम नही हुई। अतर्दृष्टि अवरुद्ध होने लगी—तथ्य पर दृष्टि केन्द्रित हो जाने से तत्त्व-दर्शन का महत्व कम होने लगा। अनुसधाता शाखाओ मे उलझकर मूल को भूलने लगा। विश्लेषण के स्थान पर गणना का आधिक्य होने लगा। हृदय के सुन्दर रहस्यो को समझने के लिए साख्यिकी परीक्षा की जाने लगी। कल्पना का नियत्रण करने के दुराग्रह ने विचार और चिन्तन को भी क्षीण कर दिया। बाह्य रूपविधा का गौरव इतना बढा कि साहित्य का प्राण-रस सूखने लगा। साहित्य के अन्तर्दशन को नए आलोचक छायावादी आलोचना कहने लगे। एक अतिवाद से मुक्त होकर हिन्दी अनुसधान एक दूसरे घातक अतिवाद का शिकार हो गया। वास्तव मे यह प्रवृत्ति और भी अधिक चिन्त्य थी और यदि समय पर इसका नियमन न हुआ होता तो हमारे यहाँ विद्या का स्तर निश्चय ही गिर जाता। वास्तव मे इस प्रवृत्ति के मूल मे एक आधारभूत सिद्धान्त की उपेक्षा निहित थी। वह सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक विषय के अध्ययन की प्रविधि-प्रक्रिया उस विषय की अपनी प्रकृति मे से ही प्राप्त होनी चाहिए। अध्ययन के नियम और प्रविधि प्रक्रिया निरपेक्ष नही हैं वे सदा विषय पर ही आश्रित रहते हैं। जो विद्वान विज्ञान की निस्सग दृष्टि और एकान्त वस्तुपरक प्रविधि-प्रक्रिया का यथावत् आरोपण साहित्य के अध्ययन पर करना चाहते है वे इस मौलिक सिद्धान्त को भूल जाते है कि रूपाकृति तो आत्मा का प्रतिबिम्ब मात्र है। अत साहित्य की आत्मा का अनुसधान करने के लिए विज्ञान का उतना उपयोग तो श्रेयस्कर है जितना कि मानवात्मा के उत्कर्ष के लिए नाना प्रकार के भौतिक

और सामाजिक विज्ञानो का। पर, इसके आगे बढना खतरनाक होगा। उससे साहित्यिक मूल्यो का विपयय हो जाने की बडी आशका है।

और, यह आशका आज हिन्दी अनुसधान के क्षेत्र मे सत्य सिद्ध हो रही है। अनुसधान आलोचना नही है, इस भ्रान्त धारणा से अन्य भ्रान्तियो का जन्म हो रहा है, हिन्दी का अनुसधाता यह समझने लगा है कि अनुसधान का काय केवल अन्वेषण करना है सत्साहित्य और असत्साहित्य—यहा तक कि साहित्य और असाहित्य की परख से उसका क्या वास्ता ? फलत आज साहित्यिक अनुसधान के नाम पर ऐसे वाङ्मय का सग्रह हो रहा है जो किसी भी लक्षण से साहित्य के अतगत नही आता। मैने भारतीय हिन्दी परिषद् की निबन्ध-गोष्ठी के सभापति पद से यह प्रश्न उठाया था। उस समय समयाभाव के कारण मैं अपने मतव्य को स्पष्ट नही कर पाया था, और, सुना था बाद मे कतिपय विद्वानो को मेरे वक्तव्य पर आपत्ति भी थी। मेरा अभिप्राय वास्तव मे यह है कि साहित्यिक अनुसधान साहित्य की परिधि के भीतर ही रहना चाहिए—ऐसी सामग्री को जो साहित्य के अन्तगत नही आती अर्थात् जो अपनी विषय वस्तु और प्रतिपादन-शैली द्वारा सहृदय के चित्त को चमत्कृत करने मे सवथा अक्षम है, साहित्य के अनुसधान के अतगत सग्राह्य नही मानना चाहिए। आज हिन्दी के अनुसधाता आदिकाल, भक्तिकाल, आधुनिक हिन्दी साहित्य के पूर्वार्धं आदि से सम्बद्ध ऐसी प्रचुर सामग्री का ढेर लगाते जा रहे है जो साहित्य नही है। उदाहरण के लिए राम काव्य अथवा कृष्ण-काव्य के कलेवर को विगत १०-१५ वर्षों मे नवीनता के अन्वेषको ने ऐसे अनेक साम्प्रदायिक ग्रन्थो से भरकर फुला दिया है जो किसी भी परिभाषा के अनुसार काव्य नही है। आप कहेगे उनका ऐतिहासिक एव सास्कृतिक मूल्य है—ठीक है, मै भी इसे मानता हूँ किन्तु अनुसधान के विषय का शीषक तो राम-काव्य या कृष्ण-काव्य है रामभक्ति अथवा कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायो का इतिहास नही है। जो स्पष्टत अकाव्य है उस सामग्री का पृष्ठभूमि आदि का निर्माण करने के लिए उपयोग कर लीजिए किन्तु काव्य शीर्षक के अन्तर्गत उसका अनुसधान करने की कृपा न कीजिए। आदिकाल को ही लीजिए—नाथो और सिद्धो की सैकडो रचनाओ का हमारे खोजियो ने साधुओ की गुदडियो मे से निकालकर ढेर लगा दिया है, आयुर्वेद, कृषि, समकालीन राजनीति आदि से सम्बद्ध राशि-राशि ग्रन्थ हिन्दी साहित्य का सीमा-विस्तार आयुर्वेद और कृषिशास्त्र तक करते जा रहे है। निर्गुण सतो की साम्प्रदायिक बानियाँ जिनकी रचना शुद्ध साम्प्रदायिक उद्देश्य से हुई थी और कवित्व के नितान्त अभाव के कारण किसी भी प्राचीन काव्य-

रसिक ने जिनका भूल कर भी उल्लेख नही किया, आज के वैज्ञानिक अनुसधान के फलस्वरूप हिन्दी काव्य की श्रीवृद्धि कर रही हैं। इसी प्रकार आधुनिक काल मे भारतेन्दु और द्विवेदी युगो की सम्पूर्ण पत्रकारिता का हिन्दी साहित्य मे अविकल रूप से समावेश किया जा रहा है। उधर लोकसाहित्य का आक्रमण भी जोर से हो रहा है—और लोकसाहित्य तक तो कुशल थी क्योकि साहित्य शब्द के साहचर्य के कारण लोक हृदय की करुण-मधुर अनुभूतियो से उसका कुछ न कुछ सपर्क बना रहता था। किन्तु अब तो हमारा अनुसधान लोकवार्त्ता तक प्रगति करता जा रहा है—उस वार्ता तक जिसके विषय मे सस्कृत काव्यशास्त्र के प्राचीन आचार्य का निर्भ्रान्त निर्णय था

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिण ।
इत्येवमादि किं काव्य वार्तामेना प्रचक्षते ।।

भामह काव्यालकार २।८७

अर्थात् सूर्यास्त हो गया, चन्द्रमा चमक रहा है, पक्षिगण अपने घोसलो मे जा रहे है। यह भी क्या कोई काव्य है ? इसे तो वार्ता कहते है। अर्थात् वार्ता शब्द हमारे काव्यशास्त्र मे अकाव्य का पर्याय माना गया है।

मैं एक भ्रान्ति का निराकरण करने के लिए दूसरी को जन्म देना नही चाहता। इसलिए अपने मतव्य को थोडा और स्पष्ट करना आवश्यक है। मैं एक क्षण के लिए इस प्रकार की सामग्री का अवमूल्यन करना नही चाहता—सास्कृतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक अनुसधान मे इसका अपना विशिष्ट मूल्य है। भारत की मध्यकालीन सस्कृति का इतिहास प्रस्तुत करने मे सिद्धो, नाथो और सतो की बानियो का अपूर्व महत्व है—देश के नवजागरण का इतिहास भारतेन्दु और द्विवेदीयुगीन पत्रकारो का चिर-आश्रित रहेगा, इसी प्रकार लोक-सस्कृति और समाज-शास्त्र के लिए लोकवार्ताओ का महत्व अक्षुण्ण है। मध्ययुग अथवा आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप मे भी उपर्युक्त सामग्री अत्यन्त मूल्यवान है, प्रेरक स्रोतो के रूप मे इसका उपयोग किया जा सकता है, कवि मानस के निर्माण के लिए तत्कालीन परिवेश की महत्ता भी असदिग्ध है। किन्तु वह तो क्षेत्र ही दूसरा है। आज तो सत-काव्य, राम-काव्य, कृष्ण-काव्य, शीर्षक के अतर्गत इस प्रकार की अकाव्यमयी सामग्री का समावेश होता जा रहा है। और इसका कारण क्या है ? केवल यह गलत नारा कि अनुसधान आलोचना नही है—इसीलिए आलोचक-दृष्टि के अभाव मे अनुसधाता काव्य के नवनीत के साथ उस सप्रेटा को फिर से मिला कर रख देता है जिसे आचार्य शुक्ल जैसे मर्मी इतिहासकारो ने निकाल कर फेक दिया था। जैसा कि

मैंने अ"यत्र निवेदन किया है, यह सब कच्चा माल है—इसे आलोचना की परिष्कारिणी (रिफाइनरी) मे साफ करके ही इस्तैमाल करना चाहिए। आखिर, काव्यानुसधान का लक्ष्य क्या है? काव्य सत्य की शोध ही न? जिस अनुसधान मे काव्यत्व अर्थात् काव्य का मूल सत्य ही खो जाए वह फिर और किसकी खोज करना चाहता है?

मैं स्वभाव और वृत्ति से अध्यापक हूँ। कक्षा मे प्रत्येक व्याख्यान के बाद मैं इस विषय मे आश्वस्त होने का प्रयत्न करता हूँ कि सभी विद्यार्थी मेरे वक्तव्य को समझ गए या नही। मेरे वक्तव्य से उनके मन मे कुछ भ्रातियाँ तो उत्पन्न नही हो गई और मेरे द्वारा प्रस्तुत सामग्रो का विद्यार्थी किस प्रकार से उचित उपयोग कर सकेगे। आपको विद्यार्थी मानने का दम्भ तो मै कैसे करूँ किन्तु यह विश्वास लेकर कि आप सब जिज्ञासु भाव से यहाँ उपस्थित है मैं अपनी इस प्रविधि की आवृत्ति करना चाहता हूँ और अनुसधान के विषय मे अपने प्रतिपाद्य विषय से सम्बद्ध कुछ व्यावहारिक सकेत देकर आज के वक्तव्य को समाप्त करूँगा। मेरी स्थापनाएँ सक्षेप मे इस प्रकार है —

१—अनुसधान और आलोचना निश्चय ही पर्याय नही है, अनुसधानकर्मी को यह समझकर अपने काय मे प्रवृत्त होना चाहिए। इससे उसकी प्रवृत्ति तथ्य-शोध के प्रति जागरूक रहेगी और उसके विवेचन का तथ्याधार पुष्ट हो जाएगा। वह परागत तथ्यो पर निभर न रहकर स्वय भी नवीन सामग्री के सकलन का प्रयत्न करेगा या कम से कम प्राप्त सामग्री की प्रामाणिकता की परीक्षा स्वय करेगा। प्रत्येक शोधकर्त्ता को इस प्रवृत्ति का विकास करना चाहिए।

२—अनेक विषय ऐसे हो सकते हैं जिनके अन्तगत तथ्यान्वेषण से भी काम चल सकता है। कम से कम पी-एच० डी० की उपाधि के लिए उतना पर्याप्त हो सकता है। किन्तु यह अनुसधान का अथ है, इति नही है। उसी विषय पर तथ्याख्यान और सम्यक् आलोचना के द्वारा गहनतर अनुसधान की सभावनाएँ बनी रहती है। वही शोधार्थी अथवा कोई अन्य उनसे यथाविधि लाभ उठा सकता है और उसे उठाना चाहिए। उदाहरण के लिए ध्रुवदास के जीवनवृत्त और कविवृत्त पर शोध करने के पश्चात् वही या अ"य कई अनुसधाता ध्रुवदास की काव्यकला, दाशनिक भूमिका आदि पर सूक्ष्मतर अनुसधान कर सकते हैं।

३—तथ्यान्वेषण अनुसधान का आधारमात्र है और प्रारम्भिक रूप होने के नाते अपेक्षाकृत निम्नतर रूप भी है। डी० लिट्० के लिए इस प्रकार के शोधकार्य की सस्तुति करने मे मुझे अत्यन्त सकोच होता है, जब तक कि उसका क्षेत्र बहुत ही व्यापक न हो।

४—आलोचनात्मक प्रतिभा के बिना मै उत्कृष्ट अनुसधाता की कल्पना नही कर सकता। शोध-नियमो के अनुसार भी परीक्षक को यह प्रमाणित करना पडता है कि अनुसधाता ने अपने प्रबन्ध मे आलोचन-क्षमता का परिचय दिया है। सत्य शोध के तीन सस्थान है—तथ्य-सग्रह, विचार और प्रतीति। उपलब्ध तथ्य को विचार मे परिणत किये बिना ज्ञान की वृद्धि सम्भव नही है और विचार को प्रतीति मे परिणत किये बिना सत्य की सिद्धि सम्भव नही। तथ्य को विचार-रूप देने के लिए भावन की आवश्यकता पडती है और विचार को प्रतीति मे परिणत करने के लिए दशन अनिवाय है—और ये दोनो ही साहित्यालोचन के अतरग तत्त्व है। अत उत्कृष्ट साहित्यिक आलोचना साहित्यिक अनुसधान का उत्कृष्ट रूप है—शोधार्थी को इस महत्वपूण तथ्य के विषय मे निर्भ्रान्त रहना चाहिए।

डा० दीनदयालु गुप्त

हिन्दी-साहित्यिक अनुसंधान के प्रकार

सामान्य रूप से हम कह सकते है कि साहित्य भाषा के माध्यम द्वारा जीवन की सरस और कल्याणकारी अभिव्यक्ति है। साहित्य मे जिस जीवन का उद्घाटन भाषा द्वारा किया जाता है उसका सम्बन्ध मानव के शरीर और अभ्यन्तर के अतिरिक्त इस नाम रूपात्मक सृष्टि के अनेक रूप और व्यापारो से भी है। साहित्य की सरसता और उपयोगिता यद्यपि मानव-जीवन के लिये ही है परन्तु मनुष्य का साहचय सृष्टि के अन्य प्राणियो और विविध व्यापारो से सदैव रहा है। इमलिये मानव जीवन और मानव द्वारा निर्मित साहित्य के विषयो का क्षेत्र उतना ही व्यापक और विस्तृत है जितनी व्यक्त-अव्यक्त यह सृष्टि है। मानव की जिज्ञासा सृष्टि के व्यक्ताव्यक्त बहुमुखी जीवन को जानने की सदैव से रही है और अब भी है। सत्य क्या है, भौतिक प्रकृति के पीछे तत्त्व क्या है, और सत्य और तत्त्व के आवरण का क्या स्वरूप है, इस प्रकार के बोध अथवा ज्ञान के लिये वह अपने भीतर और बाहर की प्रयोगशालाओ मे बैठकर नाना-रूपात्मक सृष्टि के भौतिक-अभौतिक, स्थूल सूक्ष्म तथा मूत अमूर्त तत्त्वो की खोजबीन करता है। अपने ज्ञान और अनुभवो को विस्मृति से बचाने के लिये वह उन्हे भाषाबद्ध करता है। नवीन ज्ञान की खोज के साथ वह विस्मृत ज्ञान को पुनर्जीवित करता है। इस तरह मानव का अन्वेषण व्यापार सदैव चलता रहता है। अनुसधान का उद्देश्य हमारे ज्ञान की वृद्धि करना और प्राप्त ज्ञान की मौलिकता एव उपादेयता का इगित करना है। भारतवष मे हमारे ऋषियो ने अपनी चित्तवृत्ति के निरोध द्वारा अनेक आध्यात्मिक अनुसधान किये थे, प्राप्त ज्ञान की अनेक प्रकार से व्याख्या की थी। पाश्चात्य देशो मे तो भौतिक

जगत के आश्चर्यकारक आधिभौतिक अनुसधान हुए है और हो रहे है। जो बात किसी समय केवल कल्पनामात्र समझी जाती थी आज वह प्रत्यक्ष एव सिद्ध तथ्य हो रही है।

अन्वेषण अथवा अनुसधान के विषय कितने प्रकार के है, अथवा अनुसधान कितने प्रकार का होता है—यह जिज्ञासा स्वाभाविक है। वास्तव मे जितने रूप सृष्टि जीवन के है उतने ही विषय अनुसधान के भी है। वैज्ञानिक, दार्शनिक, योगी तथा शास्त्रकारो ने सृष्टि के रूप, व्यापार और धर्मों का विश्लेषण, नियमन और व्यवस्थापन करके अनेक शास्त्र बानए है। हमारे प्राचीन मनीषियो ने अर्जित अनुभव और ज्ञान-राशि को मुख्यत तीन रूपो मे लिखित-अलिखित भाषा द्वारा सचित किया है—(१) काव्य-रूप मे, (२) शास्त्र रूप मे तथा (३) पुराण और इतिहास-रूप मे। इन्ही तीन आधारो पर समस्त अनुसधान के तीन क्षेत्र हो सकते है—(१) काव्य अथवा साहित्य-सम्बन्धी अनुसधान (२) शास्त्र-सम्बन्धी अनुसधान (३) पुराण और इतिहास-सम्बन्धी अनुसधान।

उक्त तीनो प्रकार के अनुसन्धान अपनी स्वतन्त्र सत्ता भी रखते है और एक दूसरे मे सम्मिलित भी हैं, जैसे किसी शास्त्र के सिद्धान्तो का प्रणयन काव्य द्वारा हो सकता है। उसी प्रकार प्रत्येक काव्य-रूप और शास्त्र रूप का इतिहास होता है। प्रत्येक शास्त्र के अध्ययन मे शास्त्रकार के परिचय की जिज्ञासा की पुष्टि भी ऐतिहासिक तथ्यो से होती है। उसी प्रकार से साहित्य या काव्य-क्षेत्र के अनुसधानो का सम्बन्ध विविध शास्त्र और इतिहास दोनो से होता है। इस प्रकार साहित्यिक अनुसधान के भी मोटे रूप मे हम तीन भेद कर सकते है।

१ शुद्ध साहित्यिक अन्वेषण।

२ शास्त्रपरक साहित्यिक अन्वेषण।

३ ऐतिहासिक तथ्यपरक साहित्यिक अन्वेषण।

साहित्यिक अथवा काव्यपरक अन्वेषण—यहाँ हम 'साहित्य' और 'काव्य' शब्दो को समान अथ मे ले रहे है। हिन्दी मे काव्य व्यापक अथ मे अर्थात् साहित्य के अथ मे भी प्रयुक्त होता है और कविता के सकुचित अथ मे भी। उधर अँग्रेज़ी मे 'साहित्य' शब्द का भी प्रयोग व्यापक और सकुचित दो अर्थें मे होता है। व्यापक रूप मे साहित्य के अन्तगत सभी शास्त्रो की ज्ञानराशि और इतिहास के सभी तथ्य आ जाते हैं, सकुचित अर्थ मे केवल मानव-अनुभूति और विचारो से पूर्ण गद्य-पद्यात्मक सरस और रुचिकारी शैली मे प्रतिपादित कृति साहित्य है। यहा हम सकुचित अथ मे साहित्य शब्द का प्रयोग करेगे। और इसी अर्थ से सम्पन्न साहित्य-सम्बन्धी अनुसधानो के प्रकारो पर प्रकाश

डालेगे। साहित्य दो प्रकार का होता है। एक लिखित नागरिक साहित्य, दूसरा मौखिक लोक साहित्य। दोनो प्रकार के साहित्य की गवेषणा हो सकती है।

शुद्ध काव्य अथवा साहित्य-सम्बन्धी अनुसधानो के भेद काव्य के विविध तत्त्वो के अनुसार हम कर सकते है। काव्य के मुख्य तत्त्व है विषय वस्तु, भाव, विचार, शैलीगत कला तथा भाषा। किसी साहित्यिक कृति मे केवल एक ही तत्त्व हो अथवा केवल एक ही तत्त्व को लेकर अनुसधान हो सकता हो, ऐसी बात नही है। एक ही अध्ययन मे उक्त तत्त्वो मे से कई तत्त्वो का अध्ययन हो सकता है। इस प्रकार काव्यानुसधान मे उक्त तत्त्वो की मुख्यता के आधार से उसके ये प्रकार हो सकते है—

१ वस्तु तथ्यानुसधान, २ भावानुसधान, ३ विचारानुसधान, ४ कलानुसधान ५ भाषानुसधान।

वस्तु तथ्यानुसधान—इस प्रकार के अनुसधानो मे किसी काव्य-कृति के वर्ण्य विषय का विवरण और उसी के तथ्यो का आकलन और वर्णन होता है। साहित्य के विषय जीवन के विविध क्षेत्रो और व्यापारो से सम्बन्ध रखते है। इसलिए इस प्रकार के अन्वेषणो का सम्बन्ध विचारात्मक क्षेत्रो से घनिष्ठ रूप मे होता है, जैसे सामाजिक क्षेत्र, राजनीतिक क्षेत्र, धार्मिक क्षेत्र आदि। और वस्तु-तथ्यो के प्रकार-भेद इन्ही क्षेत्रो के आधार से हो जाते है। जैसे 'रामचरितमानस की कथा वस्तु और उसके आधार-सूत्र' अथवा 'पद्मावत की कथा-वस्तु और उसका सगठन।' हिन्दी मे वस्तु तथ्यो को लेकर तुलनात्मक अध्ययन भी हुए है। जैसे—'रामचरितमानस और वाल्मीकि रामायण की कथावस्तु का तुलनात्मक अध्ययन।' 'रामचरितमानस और कृत्तिवास कृत बगला रामायण का तुलनात्मक अध्ययन।' 'राम कथा उद्‌भव और विकास।' आदि

भावानुसधान—किसी काव्य कृति मे, चाहे वह कविता, नाटक, उपन्यास आदि मे से कोई भी काव्य-रूप हो, निहित भाव और उससे सम्बन्धित रस की दृष्टि से उस कृति का गवेषणात्मक अध्ययन होता है। मानव-भावो की अनेक कोटियाँ है। हमारे काव्यशास्त्रकारो ने मुख्य भावो को नौ या दस प्रकार का माना है और उपभावो को जिन्हे सचारी भाव कहते है ३३ प्रकार का माना है। इनमे से किसी एक मुख्य भाव अथवा उनमे से अनेक भावो का और उनसे सम्बन्धित रसो का अध्ययन किसी एक काव्य-कृति मे, अथवा, किसी विशिष्ट काल की काव्य कृतियो मे अथवा किसी एक क्षेत्र के लेखक-वर्ग की कृतियो मे हो सकता है, जैसे—'तुलसी के काव्य मे शृगार-रस' अथवा 'अकबरी दरबार के कवियो का शृगार-चित्रण।' अथवा 'रीतिकाल मे वीरभाव', 'हिन्दी काव्य

मे करुण-रस', 'मध्यकालीन हिन्दी-काव्य मे शृगार रस', 'आधुनिक हिन्दी काव्य मे वीररस' आदि । भावो के उत्पादक और उद्दीपक कारण होते हैं । भाव के साथ इन कारणो का वर्णन, जिन्हे हम आलम्बन और उद्दीपन विभाव कहते है, अनिवाय होता है । कभी कभी भावानुसधान सम्बन्धी अध्ययनो मे भाव से सम्बन्धित शास्त्रीय ढग के विवेचन भी होते है, जैसे—लखनऊ विश्व-विद्यालय से स्वीकृत एक थीसिस—'हिन्दी महाकाव्य मे नायक' मे विषय का प्रतिपादन हुआ है जिसमे महाकाव्य के मुख्य पात्र का आलम्बन रूप मे अध्ययन किया गया है । जैसा कि हमने अभी कहा है, काव्य अथवा साहित्य का प्रकाशन गद्य-पद्य-शैली और प्रबन्ध, मुक्तक, नाटक, उपन्यास, कहानी, चरित्र अथवा जीवनी, पत्र, यात्रा आदि कई रूपो मे होता है । इसलिये भाव का अनुसधानात्मक अध्ययन किसी भी प्रकार की काव्य-कृति मे किया जा सकता है ।

विचारानुसधान—इस प्रकार के अनुसधानो की कोटि को हम शास्त्रानुसधान भी कह सकते है । जीवन के किसी भी क्षेत्र से सबधित विचारो का तर्क और बुद्धिसगत विश्लेषण, उनका नियमन और विवेचन शास्त्र कहलाता है । काव्य-रूप मे भी उक्त शास्त्र-सम्बधी विचारो का सरस, सहज, प्रतिपादन बहुधा हुआ है । किसी काव्य कृति की किसी विचार-प्रणाली अथवा शास्त्रीय सिद्धान्त की दृष्टि से व्याख्या और विवेचना करना विचानुसधान है । शास्त्रीय अन्वेषणो मे किसी साहित्यिक कृति का अध्ययन किन्ही शास्त्रीय नियमो के आधार से अथवा किसी शास्त्र के प्रकाश मे होता है । विज्ञान, दशन-शास्त्र, धर्म-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र, समाज-शास्त्र, सस्कृति-विज्ञान, साहित्य शास्त्र, भाषा-शास्त्र आदि शास्त्रीय विचारो और सिद्धान्तो का आकलन काव्य-कृतियो मे देखा जा सकता है । इस प्रकार के खोज-काय हिन्दी मे हुए हैं । वैसे हिन्दी मे अनुसधान-काय बहुधा मिश्रित ढग के ही हुए है फिर भी उनमे किसी एक प्रकार के अनुसधान की प्रमुखता के आधार पर उनको इस प्रकार के विभिन्न वर्गो मे रखा जा सकता है । जैसे डा० बलदेवप्रसाद मिश्र का 'तुलसी-दशन', डा० रामदत्त भारद्वाज का 'तुलसी-दशन', डा० बडथ्वाल का 'हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय', डा० रसाल का 'अलकार-शास्त्र का विकास', डा० गोविन्द त्रिगुणायत का 'कबीर की विचारधारा' आदि थीसिस शास्त्रीय ढग की विचारात्मक अनुसधान-कृतिया हैं । और भी मौलिक प्रबन्ध इस वग के हैं जैसे 'राम-भक्ति काव्य मे रसिक सम्प्रदाय', 'राधावल्लभ सम्प्रदाय साहित्य और सिद्धान्त', 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय', 'रामानन्द सम्प्रदाय के हिन्दी कवि',

'आचाय शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त', 'नाथ पथ के हिन्दी कवि', 'मलूकदास और उनका सम्प्रदाय', 'सुन्दर-दशन ।'

भावात्मक तथा विचारात्मक अनुसधानो का यह तात्पय नही है कि वे भावात्मक अथवा विचारात्मक शैली मे लिखे गए है। उनका तात्पय यही है कि एक मे भावात्मक तथ्यो की विवेचना है और दूसरे मे विचारात्मक तथ्यो की व्याख्या है। 'वाह ! बाबा सूरदास ! आपने खूब कहा है ! ऐसा कहा है कि आपकी कलम चूमने को जी चाहता है।' इस प्रकार के कथन न तो तथ्यात्मक ही कहे जा सकते है, और न व्याख्यात्मक ही ।

प्रवृत्त्यनुसधान—कभी किसी एक काल या एक स्थान के लेखक-वग की कृतियो मे एक ही प्रकार की भाव और विचारधारा प्रवाहित मिलती है। ये भाव और विचारधाराएँ जीवन के किसी भी क्षेत्र, जैसे सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, दाशनिक, सास्कृतिक, प्राकृतिक क्षेत्र, से सम्बन्धित हो मकती है। साहित्यिक कृतियो का उक्त भाव और विचार-प्रवृत्तियो के आधार से अध्ययन करना अथवा काव्य-कृतियो के आधार से किसी प्रकार की सामान्य प्रवृत्ति की खोज करना प्रवृत्तिपरक अनुसधान है। इस प्रकार के थीसिसो के उदाहरण है—

"आधुनिक काव्य धारा"—डा० केसरी नारायण शुक्ल ।

"हिन्दी काव्य मे रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ"—डा० ब्रजमोहन गुप्त, प्रयाग ।

"आधुनिक आलोचना की प्रवृत्तियाँ"—डा० रामदरश मिश्र काशी ।

"हिन्दी काव्य मे रहस्यवाद," "आधुनिक हिन्दी काव्य मे निराशावाद," "आदिकालीन काव्य की प्रवृत्तियाँ," आदि ।

कलानुसधान—शैलीगत अध्ययन के अन्तगत किसी साहित्यिक कृति की अभिव्यजना-कला का विवेचन और उसकी परख करना कलानुसधान है। साहित्य मे शैली का ही दूसरा नाम अभिव्यजना-कला है। अभिव्यजना-कला के कई अग अथवा उपकरण है, जैसे छन्द, अलकार, लय, सगीतात्मकता, चित्रमयता, शब्द की वृत्तियाँ आदि। कविता, नाटक, उपन्यास, आदि सभी काव्य-रूपो मे अभिव्यजना कला के एक या अनेक उपकरणो का भाव और विचार की सुबोधता और उत्कष वृद्धि के लिये उपयोग होता है। कलानुसधान वग के प्रबन्धो मे शैलीगत कला के किसी एक उपकरण का, किसी एक काव्य-कृति के आधार पर, अथवा अनेक काव्य-कृतियो के आधार पर अध्ययन होता है। आजकल काव्य-कला की स्वरूप धारणा भारतीय और पाश्चात्य दोनो विचारधाराओ अथवा काव्य सिद्धान्तो के अनुसार प्रचलित है। किसी काव्य-कृति का अध्ययन उक्त दोनो विचारधाराओ मे से किसी एक के आधार से अथवा दोनो के तुलना-

त्मक आधार[से हो सकता है । हिन्दी मे काव्य-शास्त्र और काव्यादश की सुस्पष्ट अपनी निजी स्वरूप-धारणा निर्धारित नही हुई है । बहुधा परम्परागत सस्कृत के काव्यशास्त्र के सिद्धान्तो का हिन्दी-ससार मे अनुगमन होना है । इसके साथ कुछ अँग्रेजी तथा पाश्चात्य आलोचना-पद्धति का भी सम्मिश्रण हो गया है । कलानुसधान एक प्रकार से काव्य-शास्त्रीय अध्ययन है क्योकि इनमे काव्य शास्त्र के उपकरणो के शास्त्रीय आधार पर काव्य-कृतियो का अध्ययन होता है । प्राचीन आचार्यो के आलोचना अथवा काव्यशास्त्र-सिद्धान्तो के प्रकाश मे भी कृतियो का अध्ययन हो सकता है और काव्य कृतियो के आधार से नये सिद्धान्तो का निर्धारण भी हो सकता है । शैलीगत कलानुसधान के हिन्दी मे कई थीसिस लिखे गए है—जैसे डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा का, 'प्रसाद के नाटको का शास्त्रीय अध्ययन' तथा डा० नगेन्द्र का 'रीतिकाव्य की भूमिका मे देव का अध्ययन', 'हिन्दी कहानी की शिल्प-विधि का विकास,' 'आधुनिक हिन्दी कविता मे शिल्प-विधि का विकास ।'

भाषानुसधान—साहित्य के मुख्य अगो अथवा तत्त्वो मे एक तत्त्व भाषा है। भाषा भाव और विचारो की वाहक होती है और अभिव्यजना-कला का आधार क्षेत्र है । भाषानुसधान के कई रूप है । किसी साहित्यिक कृति मे प्रयुक्त भाषा का व्याकरण की दृष्टि से, भाषाशास्त्र की दृष्टि से, सास्कृतिक दृष्टि से तथा भाषा की अभिव्यजना-शक्ति की दृष्टि से अथवा उक्त अनेक विधियो के मिश्रित दृष्टिकोणो से अध्ययन हो सकता है । साहित्यिक कृतियो मे प्रयुक्त भाषा के अध्ययन के अतिरिक्त बोलियो मे मौखिक रूप मे प्रयुक्त भाषा की शक्ति का स्वतन्त्र अध्ययन भी हो सकता है । बोलियो के भाषा-वैज्ञानिक तथा सास्कृतिक दोनो प्रकार के अध्ययन हो सकते है । बोलियो के भाषा वैज्ञानिक अध्ययन शास्त्रानुसधान कोटि मे भी रखे जा सकते है । इसमे किसी भाषा या बोली के शब्दो की ध्वनि, उनके अथ-परिवतन उसके वाक्य-विन्यास आदि पर भाषा-शास्त्र के अनुसार अध्ययन होता है। भाषाध्ययन की वर्णनात्मक तथा ऐतिहासिक दो प्रणालियाँ प्रचलित है ।

भाषा से सम्बन्धित अध्ययन कवियो की देशी-विदेशी शब्द-सम्पन्नता, उनकी भाषा की भाव व्यजना-शक्ति, जिसमे भाषा की अभिधा, लक्षणा तथा व्यजना-शक्ति सम्मिलित है, आदि कई दृष्टियो से होता है । काव्य कृति की भाषा मे, अथवा विविध बोलियो मे प्रचलित सास्कृतिक, औद्योगिक, वैज्ञानिक, साहित्यिक तथा कला सम्बन्धी शब्दावली का सकलन और विवेचन भी इसके अन्तर्गत हो सकता है । बोलियो के अथवा काव्य कृतियो के इस प्रकार के तुलनात्मक

अनुसधान भी हो सकते हैं। भाषा शब्दकोष की समृद्धि के लिए इस प्रकार के भाषाध्ययन बहुत उपयोगी है। इस प्रकार के हिन्दी मे कई अध्ययन हुए है। जैसे —'सूर की भाषा'—डा० प्रेमनारायण टडन, लखनऊ। 'तुलसी की भाषा' डा० देवकीनन्दन श्रीवास्तव, लखनऊ। 'रासो की भाषा'—डा० नामवरसिह, काशी। इस प्रकार के अध्ययन काव्य कृतियो से सम्बन्धित है। इनके अतिरिक्त 'अवधी भाषा का विकास', 'ब्रजभाषा का अध्ययन' 'भोजपुरी ध्वनियो और ध्वनि प्रक्रिया का अध्ययन', 'भोजपुरी का 'विकास' 'हिन्दी अर्थ विचार', 'आज़मगढ ज़िले की ग्रामोद्योग शब्दावली', 'अलीगढ क्षेत्र की कृषक जीवन-सम्बन्धी शब्दावली' आदि अध्ययन कुछ भाषानुसधान कोटि के होते हुए भी शास्त्रानुसधान और ऐतिहासिक अनुसधान से भी सम्बन्धित है।

पाठानुसधान—भाषा से सम्बन्धित किसी काव्य-कृति के पाठ का निर्णय और उसका सुसम्पादन-काय भी अनुसधान का एक मौलिक प्रकार है। सभी प्रकार के साहित्यिक अध्ययनो के लिये आलोच्य कृति के सुनिश्चित पाठ का उपलब्ध होना परमावश्यक है। हिन्दी मे बहुत-से ऐसे महान कवि है जिनके निश्चित प्रामाणिक पाठ के बिना उनकी भाषादि का ठीक ठीक अध्ययन नही हो सका है। किसी पुस्तक की केवल एक प्रतिलिपि के आधार पर पुस्तक का पाठ तैयार कर देना मौलिक अनुसधान नही है। पुस्तक के कई पाठ उपलब्ध होने चाहिए। उनके मिलान से एक प्रामाणिक पाठ निर्धारित किया जा सकता है।

पाठ सम्पादन की कई प्रणालियाँ है। किसी प्राचीनतम प्रति का पाठ देकर, फुटनोट मे भिन्न-भिन्न समय और स्थानो की प्रतियो के पाठान्तर देने की एक प्रणाली है। एक दूसरी प्रणाली मे सम्पादक पाठान्तर देने के साथ-साथ अपने अध्ययन के आधार पर सब पाठो को मिलाकर और उनमे से लेखक के मनोनुकूल अथ वाले पाठ को छाँटकर एक पाठ, विद्यमान पाठो के आधार पर ही, निर्णीत करता है। कुछ सम्पादक अपनी बुद्धि और रुचि के अनुसार प्रतिलिपियो के पाठ को छोडकर कुछ शब्दो का अथवा वाक्यो का अपना ही नया पाठ गढ देते है। इस प्रकार की प्रणाली सम्पादक की रुचि पर आधारित होने के कारण वैज्ञानिक नही कही जा सकती। वैसे सावधानी से गढे हुए पाठ कभी-कभी अर्थाकलन मे उपयुक्त भी सिद्ध हो जाते है, परन्तु यह नियम नही है। नन्ददास के ग्रथो की छपी और उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियो के आधार पर प्रयाग-विश्वविद्यालय से सुसम्पादित 'नन्ददास ग्रन्थावली' प्रकाशित हुई है। उसमे सिद्धान्त पचाध्यायी की एक पक्ति के पाठ का अर्थ मुझसे ठीक-ठीक नही बैठा।

वह पक्ति है 'सब रस कौ निर्तास रास रस कहिये सोई'। 'निर्तास' शब्द का अथ मैंने कोशो मे देखा, उनमे नही मिला। इसी शब्द से मिलता हुआ एक शब्द-कोश मे है 'निर्यास' जिसका अथ है 'सार' या 'निचोड'। यदि 'निर्तास' के स्थान पर 'निर्यास' शब्द बदल दिया जाय तो अथ की सगति ठीक बैठ जाती है। 'गोपी कृष्ण रास का रस सब रसो का सार है। लेकिन जैसा कि हमने अभी कहा, यह प्रणाली वैज्ञानिक नही है।

सम्पादन काय मे सम्पादक को, विषय का विद्वान होने के साथ-साथ भाषा का विशिष्ट ज्ञाता होना चाहिये। भाषा का व्याकरण, उसकी मौखिक परपरा और भाषा की प्रचलित सास्कृतिक प्रवृत्तियो का ज्ञान उसके लिये परमावश्यक है। एक अवधी की कृति का सम्पादन ब्रज-बोली का विद्वान उतना अच्छा नही कर सकता जितना एक अवधी-भाषी व्यक्ति कर सकता है। हस्तलिखित अथवा छपी पुस्तको की सूची अथवा तालिका मात्र तैयार कर देना एक यात्रिक काय है। इसको अनुसधान कोटि मे नही रखा जा सकता। परन्तु यदि किसी कृति मे किसी बडे पुस्तकालय की पुस्तको का विषयानुसार मौलिक ढग का वर्गीकरण करके उनका विवरणात्मक परिचय देकर तालिका तैयार की गई है तो यह कृति भी, मेरी समझ मे, अनुसधान की कोटि मे आ जानी चाहिये।

पाठानुसधान काय हिन्दी मे कम हुआ है। डा० लक्ष्मीधर जी का 'मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत का सटिप्पण सम्पादन' थीसिस पाठानुसधान का उदाहरण है। पद्मावत का एक पाठ डा० वासुदेवशरण अग्रवाल जी ने भी प्रस्तुत किया है। प्रयाग विश्वविद्यालय मे डा० माताप्रसाद गुप्त इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण काय कर रहे है।

ऐतिहासिक अनुसधान—इस प्रकार के अनुसधान के अन्तर्गत ऐतिहासिक तथा पौराणिक तथ्यो का अनुसधान होता है। ऐतिहासिक तथ्यो का सम्बन्ध किसी घटना, किसी देश, समाज तथा देश और समाज की सास्कृतिक और राजनीतिक स्थिति, लेखक अथवा आश्रयदाता सरक्षक की जीवनी अथवा किसी भावात्मक और विचारात्मक परम्परा के विकास से होता है। ये सभी ऐतिहासिक तथ्य साहित्यिक कृतियो मे देखे जा सकते है। किसी एक लेख के पूर्वापर तथा समकालीन समय, समाज और उसकी जीवनी के परिचय उसी की कृतियो से सकलित किये जा सकते है और उस लेखक के समकालीन तथा परवर्ती अन्य प्रमाणो से भी जाने जा सकते हैं। पहले प्रमाण 'अन्तर्साक्ष्य' और दूसरे 'बहिर्साक्ष्य' बहुधा कहलाते है। 'बहिर्साक्ष्य' के अन्तगत ग्रन्थ, शिलालेख, ताम्रलेख, पट्टे-परवाने आदि अनेक पुराने लेख सम्मिलित हैं। किसी काव्य-

कृति मे ऐतिहासिक तथ्यो का विवरणात्मक आकलन तथा प्रमाणित ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर काव्य-कृति का अध्ययन ये दोनो ही अध्ययन ऐतिहासिक अनुसधान के प्रकार हैं। किसी काव्य-कृति मे कितना इतिहास है और कितनी कल्पना है, इसका निर्णय भी इस अध्ययन का ध्येय है। किसी काव्य-कृति की विचार परम्परा, भाव-परम्परा, भाषा शैली, आदि का अध्ययन ऐतिहासिक और विकास-क्रम की दृष्टि से भी हो सकता है। हिन्दी मे इस प्रकार के अनुसन्धान-काय काफी हुए है। जैसे —

डा० रामकुमार वर्मा का 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' तथा 'हिन्दी साहित्य और उसकी सास्कृतिक भूमिका'

डा० श्री कृष्णलाल का 'आधुनिक साहित्य का विकास'

डा० भगीरथ मिश्र का 'हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास'

डा० जानकीनाथ सिंह का 'हिन्दी छन्द शास्त्र'

डा० रामरतन भटनागर का 'हिन्दी के समाचारपत्रो का इतिहास'

डा० सोमनाथ गुप्त का 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास'

डा० दशरथ ओझा का 'हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास'

आदि काय ऐतिहासिक अनुसधान के प्रकार है।

अनुसधानात्मक अथवा गवेषणात्मक कृति की सवमान्य विशिष्टताए दो हैं —

१ मौलिक तथ्यो का उद्घाटन

अथवा

२ ज्ञात तथ्यो की मौलिक एव नवीन व्याख्या।

इस प्रकार समस्त अनुसधान कृतियो की ये दो कोटियाँ हो जाती है।

(i) **तथ्यानुसधान या तथ्य-प्रधान अनुसधान**—जिन अनुसधान कृतियो मे मौलिक तथ्यो को खोजकर निकाला गया है और जिनमे उनकी ही प्रधानता है उन्हे हम तथ्यानुसधान के अन्तगत रख सकते है। तथ्य का तात्पय केवल ऐतिहासिक तथ्य नही है। तथ्यो का सम्बन्ध प्राकृतिक पदाथ, गुण, जाति, भाषा, भाव, विचार-प्रवृत्ति, व्यक्ति आदि सभी से है। प्रच्छन्न ज्ञान का उद्घाटन तथ्य-प्रकाशन है।

(ii) **व्याख्यात्मक अनुसधान या व्याख्या-प्रधान अनुसधान**—विद्यमान ज्ञान की बुद्धिसगत विवेचना तथा तथ्यो का निरूपण और प्रयोग व्याख्या है। इस प्रकार जितने भी विवेचनात्मक और आलोचनात्मक मौलिक अध्ययन होते

है, चाहे वे पीछे कही किसी भी कोटि के हो, उन्हे व्याख्यात्मक अनुसधान कहा जा सकता है। हिन्दी की अनेक अनुसधान-कृतियाँ तथ्य और व्याख्या दोनो की मिश्रित कृतियाँ है—

जैसे 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय'

'आचाय केशवदास

'हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य'

'आचाय कवि मतिराम'

'आचाय भिखारी दास'

'हिन्दी वीर काव्य'

'कामायनी मे काव्य, सस्कृति और दशन'।

आचाय नन्ददुलारे वाजपेयी

विषय-निर्वाचन—(१)

प्राक्कथन—विषय-निर्वाचन शब्द का प्रयोग यहाँ हम एक सीमित भूमिका मे कर रहे हैं। हमारी पहली सीमा हिन्दी साहित्य और भाषा-सबधी अनुसधान-क्षेत्र की है, जिसके बाहर जाने का हमे अधिकार नही। दूसरी सीमा इस बात से अनुशासित है कि अब तक इस क्षेत्र मे कितना काय हो चुका है। हम यह भी देखना चाहेगे कि वह काय किस कोटि का है, उसकी पद्धति क्या है, एव उसकी विवेचन-शैली आदि किस प्रकार की है। कही वह विवेचन आधुनिक जिज्ञासा से दूर तो नही चला गया अथवा उसकी शैली और शब्दावली असामयिक तो नही हो गई। यदि विवेचन मे कुछ मौलिक न्यूनताएँ है, तो भी उन्हे नवीन विषयो के रूप मे लिया जा सकता है। प्रत्येक अवसर पर हम यह नही कह सकते कि अमुक विषय शोध के लिए पुराना हो गया है। जिन विषयो पर काय हो चुका है उन पर तभी काय आगे बढाया जा सकता है जब कि योग्य पयवेक्षक और अनुरूप शोध-छात्र का युग्म तैयार हो सके। हमारी तीसरी सीमा यह है कि हम चिरकाल के लिए विषय-निर्वाचन की समस्या पर विचार नही कर सकते। विषय-निर्वाचन को हमे व्यावहारिक रूप भी देना है। इसके लिए हम लगभग पाँच वर्षों की सीमा निर्धारित कर रहे है। इस समय भारत मे हिन्दी-अनुशीलन का काय लगभग दस बारह विश्वविद्यालयो मे हो रहा है। प्रत्येक विश्वविद्यालय मे यदि तीन पयवेक्षक पयवेक्षण की योग्यता से सम्पन्न है तो कुल ३० या ३५ पयवेक्षक मानने चाहिएँ। पाँच वर्षो के अन्तगत यदि वे ढाई-ढाई वर्ष की अवधि मे पाँच-पाँच छात्रो को शोध के लिए सन्नद्ध कर सकें तो इस प्रकार तीन सौ छात्र आगामी पाँच वर्षों मे विषय-निर्वाचन की परिधि

मे आ जाते हैं। अधिक से अधिक हम इतने ही विषयो की ओर दृष्टिपात कर सकते हैं।

विषय-प्रवेश—प्राय देखा जाता है कि अनुशीलन का काय साहित्य के क्षेत्र मे अधिक हो रहा है। भाषा-सम्बन्धी कार्य अपेक्षाकृत पिछडा हुआ है। हम चाहते हैं कि दोनो मे सतुलन आ सके। अतएव भाषा सम्बन्धी विषयो की ओर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए यद्यपि इस दिशा की कठिनाई भी प्रत्यक्ष है। विश्वविद्यालयो के अधिकाश पयवेक्षक भाषा-विशेषज्ञता की उस सीमा, धरातल अथवा उत्कष तक नही पहुँचे होते जो अपेक्षित है। यह एक व्यावहारिक कठिनाई है जो विस्मृत नही की जा सकती। विषय-निर्वाचन का प्रश्न उन पर्यवेक्षको से भी अनुसीमित है जो इस समय हमे उपलब्ध है।

इतिहास के अँधेरे पृष्ठ और पाठानुशीलन—आरम्भिक अनुसधान के लिए हिन्दी साहित्य के कतिपय अँधेरे या अद्ध-अँधेरे क्षेत्र दिखाई देते हैं जिन पर पर्याप्त प्रकाश नही पडा है। मुख्यत यह इतिहास से सबधित विषय हैं। इनमे पाठ-शोधन, काल-निर्धारण और जीवनी-निर्माण का शीर्ष महत्त्व है। अनेक महत्वपूण कवियो और रचनाओ का काल-निर्धारण अभी तक नही हो पाया है। इसके कारण साहित्य के अध्ययन और इतिहास के निर्माण मे अनेक बाधाएँ उपस्थित होती है। आवश्यकता यह है कि इन अनुन्मीलित या अर्द्धोन्मीलित स्थलो की खोज की जाय और कवियो की रचनाएँ, उनका काल तथा उनकी सम्पूर्ण जीवनी प्रकाश मे लाई जाय। यह कार्य बहुत कुछ ऐसा है जैसा कि आचार्य शुक्ल ने जायसी के सम्बन्ध मे किया था। यदि हिन्दी के ऐसे अज्ञात अथवा अर्द्ध-ज्ञात कवियो और ग्रन्थो का अनुसधान कर उन पर एक-एक मौलिक प्रबन्ध लिखा जा सके तो इतिहास की सीमा का विस्तार होगा। इसी से सबधित पाठानुशीलन भी है। आधुनिक हिन्दी अनुशीलन के क्षेत्र मे इसका महत्त्व क्रमश बढता जा रहा है। इतिहास के अँधेरे पृष्ठो के उद्घाटन मे यह अनुशीलन एक दृष्टि से अति आवश्यक है। ग्रन्थो के मुख्य पाठ के निर्धारण के पश्चात् ही उनका अध्ययन, अनुशीलन उचित होगा। मुख्य पाठ का निर्धारण एक ओर जहाँ साहित्यिक अनुशीलन से सम्बद्ध है वही वह भाषा-सम्बन्धी अनुशीलन का भी उवर क्षेत्र है। इससे दोनो क्षेत्र लाभान्वित होगे। हम जानते हैं कि यह दोनो कार्य परिश्रम और पयटन सापेक्ष्य है। इनके सम्बन्ध मे कोई निश्चित सख्या अथवा परिमाण की पूर्व-योजना नही की जा सकती, परन्तु यह एक आवश्यक शोध का क्षेत्र है।

कवि-जीवनी तथा सामाजिक परिपार्श्व—कवि-जीवनी भी आज के शोध-

कार्य के लिए अत्यावश्यक विषय है। आज न केवल प्राचीन कवियो की जीवनी अनिर्मित है, वरन् आधुनिक युग के कवियो के सम्पूरण जीवन पर भी ग्रन्थो की सख्या अपर्याप्त है। इस दिशा मे हम प्राचीन कवियो के सम्बन्ध मे यदि अधिक काय न भी करा सके, तो कम से कम पिछले सौ वर्षों के साहित्यिको की जीवनी के निर्माण की दिशा मे उद्योग किया जा सकता है। अब तक हिन्दी साहित्य मे जीवनियो को प्रस्तुत करने का काय बहुत कुछ एकागी रहा है। जीवनी-लेखन की नयी दिशा ऐसी हो जिसमे वास्तविक जीवनी के अन्तगत कवि या लेखक की सच्ची जीवन-घटनाओ का क्रमबद्ध निदशन किया जा सके, उसके निजी और सामाजिक जीवन पर प्रकाश डाला जा सके। यदि हम भारतेन्दु-युग के दस, द्विवेदी-युग के तीस और वतमान युग के पचास लेखको की जीवनियो का अनुसधान करा सके तो एक बहुत बडी आवश्यकता की पूर्ति हो सकती है। इन विस्तृत जीवनियो के साथ लेखक की रचनाओ का क्रमिक विकास भी प्रबन्ध के अन्तगत ही दिखाया जा सकता है। वतमान समय मे प्रबन्ध-लेखन की एक पद्धति बनती जा रही है कि सामाजिक पृष्ठभूमि के रूप मे राजनीतिक, सामाजिक आदि घटनाओ का उल्लेख भर कर दिया जाता है परन्तु इतने से ही कवि के व्यक्तित्व की धारणा नही बनती। जीवनी का उद्घाटन होने पर उक्त सामाजिक पृष्ठभूमि भी अधिक अथ प्राप्त करेगी। विशेष अवसर पर विशेष घटनाएँ कवि को किस प्रकार प्रभावित कर सकी है, इसका अधिक यथाथ परिचय होना चाहिए। रचनाओ के क्रमिक विकास के साथ तीसरा उपक्रम कवि की विचारधारा, उसका जीवन और साहित्य-सम्बन्धी विचार और दृष्टिकोण है। इसे भी जीवनी वाले अश के साथ ही प्रस्तुत किया जा सकता है। कवि-जीवनी, सामाजिक पृष्ठभूमि, कृतियो का क्रमिक विकास, कवि की विचारधारा और दृष्टिकोण का एक समग्र प्रामाणिक सचयन हमारे अनुसधान की नीव है जिस पर आगे साहित्यिक अनुशीलन का काय किया जा सकता है। प्राय देखा जाता है कि हमारा अनुशीलन-काय पुस्तकालयो मे बैठकर ही सम्पूरण हो जाता है। मूल तथ्यो की ओर ध्यान देने की आवश्यकता ही नही समझी जाती। इस कारण हमारा अनुसधान बहुत-कुछ कोरा साहित्यिक हो जाता है। उसमे जीवन-रस का सचार नही होता। इस दिशा मे यदि कुछ आगे बढना है तो इस कार्य की ओर ध्यान देना आवश्यक है।

कृतियों का अनुशीलन—कृतियो के अनुशीलन के साथ प्राय भूमिका-रूप मे या प्रसगत कवि की सक्षिप्त जीवनी जोड दी जाती है परन्तु मेरा सुझाव है कि कृतियो का अनुशीलन स्वतन्त्र रूप से होना चाहिए। कृतियो से मेरा आशय

किसी कवि या लेखक के सपूरा कृतित्व से है। इस अनुशीलन मे साहित्यिक आधार की प्रमुखता अपेक्षित है अर्थात् यहा हम कवि या लेखक की शैली, भाषा-सृष्टि, उसकी भावधाराओ और कला तथा शिल्पगत अन्य उपकरणो का अनुशीलन करे। यह आवश्यक नही कि ऐसे प्रबधो मे पृष्ठभूमि या अन्य स्फुट तत्त्व भी सयोजित हो। अभी तक हमारे साहित्यिक अनुशीलनो मे पर्याप्त गहराई नही आई है। इसका कारण भी अन्य प्रासगिक अप्रासगिक विषयो का प्रबध के साथ सयुक्त हो जाना है। हिन्दी साहित्य की विशाल भूमि पर अनुसधेय लेखक या कवि का क्या वैशिष्ट्य है, बहुत ही प्रमुखता के साथ स्पष्ट किया जाना चाहिए। सम्प्रति हम कवियो या लेखको पर प्रबन्ध लिख डालते है, परतु कवि या लेखक की इकाई और वैशिष्ट्य अपनी सम्पूर्णता के साथ प्रस्तुत नही हो पाता जो उसकी साहित्यिक सजना की केन्द्रीय वस्तु या आधार तत्त्व है। कृतियो मे आए हुए भाव-पक्ष और विचार पक्ष की तो थोडी बहुत मीमासा प्रबन्धो मे हो जाती है, किन्तु साहित्यिक सौष्ठव, कला, शिल्प और भाषागत साधना की पर्याप्त विवेचना नही हो पाती। इस दिशा की ओर ध्यान देना अधिक आवश्यक होगा।

तुलनात्मक अध्ययन—जब किसी कवि या लेखक पर अनुशीलन कार्य होता है तो उसके ही कृतित्व को आदि से अत तक विवेचन का विषय बनाया जाता है। उसके समकालीन अन्य लेखको या कवियो को, जिनका वह स्वय पर्यवेक्षण करता है, जिनके सहयोग से ही उसकी कृतियो का निर्माण होता है, ध्यान मे नही रखा जाता। किसी भी लेखक या कवि की साहित्य-समीक्षा और साहित्यिक अध्ययन उसके पार्श्ववर्ती लेखक या कवियो के बिना पूर्ण नही कहा जा सकता। अतएव मेरा सुझाव है कि प्रबन्ध मे लेखक या कवि का विवेचन समकालीन लेखको, कवियो की तुलनात्मक विशेषता को ध्यान मे रखकर किया जाय। उनके सूक्ष्म भेदो और वैशिष्टयो को पहचानना, विवेच्य लेखक की अपनी कला पर अधिक विशिष्ट प्रकाश डालना और तुलनात्मक परिपार्श्व मे स्पष्ट विशेषताएँ दिखाना साहित्यिक अभिज्ञान की वृद्धि करना है। यह तुलना केवल हिन्दी के समकालीन कवियो तक सीमित रहे यह आवश्यक नही। अनेक लेखक और कवि बहुभाषा-विज्ञ होते है। उन पर दूसरी भाषाओ के लेखको की छाया भी पडती है, अतएव जहाँ कही ऐसे अवसर आये दूसरी भाषाओ के समान-धर्मा लेखको से भी तुलना का कार्य किया जाना चाहिए। यह तुलनात्मक अध्ययन केवल औपचारिक न हो, न ही प्रबन्ध के निष्कर्ष के रूप मे, वरन् यह प्रबन्ध का समग्र अग हो। निष्कर्ष में तो हम केवल वैशिष्ट्य और मूल्य का उल्लेख कर सकते है।

युग की काव्य-प्रवृत्तियो का अध्ययन—अनेक बार ऐसा होता है कि हम

किसी लेखक या कवि पर अनुसधान न कर सपूर्ण युग की साहित्यिक प्रवृत्तियो को अनुशीलन का विषय बनाते है। ऐसे अवसरो पर 'हमारा शोध-काय प्रवृत्तियो की गणना मे सलग्न होकर युग-काव्य की मूल चेतना तक नही पहुँचता। ऐसे प्रबधो मे सामाजिक और सास्कृतिक भूमिका का महत्व अवश्यम्भावी होता है। यहाँ कवियो की जीवनी और जीवन घटनाओ का प्रयोग भी आवश्यक हो जाता है। इन उपकरणो के साथ ही युग की प्रवृत्तियो का पयवेक्षण किया जा सकता है। युग-गत प्रभाव तथा समाज मे प्रसारित विचारधाराएँ और साथ ही सामाजिक एव राजनीतिक आदोलन आदि युग-काव्य की प्रवृत्तियो के विशिष्ट उपकरण होते हैं। इनका प्रभाव लेखको पर भिन्न प्रकार से पडता है अतएव प्रवृत्तियो का अनुशीलन केवल बाह्य न होकर कवि सापेक्ष्य होना चाहिए तभी कवि और लेखक की समग्रता के साथ युग प्रवृत्तियो का निरूपण हो सकता है, उससे विच्छिन्न होकर नही। ऐसे प्रबधो मे वर्गीकरण की पद्धति विचारणीय है। प्राय 'राष्ट्रीयता', 'सामाजिक चेतना, और 'देश-प्रेम' आदि शीषक लेकर हम प्रवृत्तियो का विवेचन करने लग जाते है और कवियो का उदाहरण देकर उसकी पुष्टि करते है। पर यह काय बिलकुल भिन्न और विपरीत दिशा से आरम्भ होना चाहिए। उस काल के प्रमुख कलाकारो, साहित्यकारो को मूल मे रखकर युग की प्रवृत्तियो का अध्ययन आवश्यक है। एक ही युग मे पारस्परिक विरोधी प्रवृत्तियाँ लेखको और कवियो मे मिलती है। ऐसी स्थिति मे यदि लेखको और कवियो को मूल मे न रखा जाय तो युग प्रवृत्तियो का आलेख भ्रामक हो सकता है। अब यही तुलना की भूमि भी आती है। अनेक बार युग-प्रवृत्तियो के निरूपक प्रबधो मे तुलनात्मक भूमिया होती है। उदाहरण के लिए छायावाद युग की प्रवृत्तियो से पश्चिमी रोमांटिसिज्म की तुलना की जाती है। इसी प्रकार अन्य तुलना की भूमियाँ भी प्रस्तुत होती है। स्पष्ट ही यह अनुसधान का बडा ही स्थूल रूप है। मूलभूत परिस्थितियो तथा राष्ट्रीय परम्परा का ध्यान रखे बिना इस प्रकार की तुलनाएँ हमे सत्य की खोज मे बहुत दूर नही ले जा सकती। अतएव इस क्षेत्र मे तुलना की भूमि अधिक परम्परा-पोषित और सतक होनी चाहिए।

काव्य-रूपो का अध्ययन—सम्प्रति काव्य-रूपो की सख्या भी क्रमश बढती जा रही है। नये काव्य-रूप हिन्दी मे विकसित हो रहे हैं। काव्य-रूपो से यहाँ हमारा तात्पय साहित्य के समस्त रूपो से है। महाकाव्य, प्रबन्ध-काव्य वर्णनात्मक कृतियाँ, प्रगीत, मुक्तक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, नाटको के विविध भेद स्वतत्र काव्य रूप हैं। इनकी क्रमिक प्रगति और विकास-भूमियो

का अनुशीलन भी आवश्यक है। इस दिशा मे भी प्राप्त प्रबन्धो मे कुछ न्यूनताएँ हैं। सामान्यत लेखक की कृतियो का परिचय दे दिया जाता है और अधिक से अधिक उनके कथा-भाग और आख्यान की समीक्षा हो जाती है। परतु हमारी दृष्टि मे काव्य-रूपो का स्वतत्र और समग्र अध्ययन अपेक्षित है। एकाधिक वस्तुओ को मिलाकर जो अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है वह साहित्यिक विवेक और कला-समीक्षा के उपयुक्त नही होता। ऐसा अध्ययन समग्र और पूर्ण भी नही कहा जा सकता। अनेक बार प्रबन्धो के शीषक तो काव्य-रूपो से सम्बधित होते हैं और काव्य-शिल्प के विज्ञापक होते हैं, परतु विवेचन और निरूपण मे काव्य-रूपो की प्रगति उनका विकास, उनका रूप-परिवतन और शिल्प-योजना का सम्यक् परिचय नही मिल पाता। इस अध्ययन को विशिष्टता देने के लिये मेरा सुझाव है कि केवल आकृति के विभिन्न प्रयोगो और परिवतनो पर दृष्टि-पात किया जाय।

वादों तथा सम्प्रदायो का अध्ययन—काव्य-रूपो का अध्ययन कला-पक्ष से सम्बधित है और वादो का अध्ययन भाव पक्ष से। वाद साहित्यिक भी होते हैं, वैचारिक भी और दाशनिक भी। अतएव वादो का अध्ययन करते समय प्रत्येक वाद की स्थिति और उसकी मूल प्रतिपत्तियाँ दाशनिक हैं अथवा सामाजिक या साहित्यिक, यह भी जान लेना चाहिये। हमे विशुद्ध दाशनिक और सामाजिक तथा राजनीतिक वादो के विषय मे यहाँ कुछ नही कहना है। परतु उन वादो ने यदि साहित्य सृजन को नयी दिशाएँ दी है, साहित्य-आकलन के नये रास्ते सुझाये हैं तो उसी रूप मे इन वादो का अध्ययन साहित्य की सीमा मे हो सकता है। इनके अध्ययन मे भी अपनी क्रमागत साहित्य-परम्परा का एव प्राचीन सिद्धान्तो का ध्यान रखना होगा। क्रमागत साहित्य-विचारणा मे ये नये वाद किस सीमा तक सग्रथित हो सकते है। नवीनता उनमे कौन-सी है और परम्परा से उनका सयोग किस रूप मे किया जा सकता है, आदि तथ्यो का परीक्षण भी अत्यावश्यक है। यदि साहित्य किसी सीमित वाद की भूमि में चला गया है तो उससे साहित्य-निर्माण मे किस प्रकार की कठिनाइयाँ आती हैं, कौन-से प्रतिबन्ध लग जाते हैं आदि प्रश्नो के साथ साहित्य के तत्त्वो की पूरी छानबीन वादो और सम्प्रदायो के अध्ययन में आवश्यक है। किसी वाद की सीमा मे निर्मित साहित्य उन वादो का कहाँ तक अतिक्रमण कर सका है, अथवा किस प्रकार वाद की सीमा मे साहित्य घिर गया है आदि विषयो के अनुशीलन द्वारा साहित्य की विकासमान गति पर प्रकाश पड सकता है। कौन-से वाद केवल प्रतिक्रिया के द्योतक हैं और कौन से वाद साहित्य-उन्नयन की

सम्भावना लेकर आये हैं इन सबकी विवेचना इस सन्दर्भ मे अनिवार्य हो जाती है ।

सैद्धान्तिक अनुशीलन—भारतीय साहित्य और शास्त्र अतिशय समृद्ध और सर्वांगीण रहा है । उसकी विभिन्न विकास दिशाओ का सम्यक् अनुशीलन आज अपेक्षित है । साहित्य सिद्धान्तो का अध्ययन दो आधारो पर किया जा सकता है । पहला आधार ऐतिहासिक है । किसी सिद्धान्त का आरम्भ कब हुआ, क्रमश उसमे नये तत्त्व किस प्रकार सयुक्त हुये, पडितो ने उसमे कितना और किस सीमा तक परिष्कार किया, कहा उसे विकृत करने के उद्योग हुये—यह सब ऐतिहासिक अनुसधान द्वारा ही प्रस्तुत किया जा सकता है । इस दिशा मे दूसरा आधार सिद्धान्त विशेष के विभिन्न पक्षो के समग्र और तात्त्विक अध्ययन का है । इतिहास को छोड देने पर भी सिद्धान्त-विशेष का मौलिक स्वरूप क्या है, उसके सहयोगी उपकरण क्या है, उसकी साहित्यिक क्षमता क्या, कैसी तथा कितनी है, नवीन परिपाश्व मे उसके विकास की कौन-सी योग्यताएँ है आदि प्रश्न सैद्धान्तिक विवेवन से जुडे हुये है । इस क्षेत्र मे अनेक बार ऐसी चेष्टाएँ की गई है जिसमे प्राचीन-प्रियता का बहुत अधिक हाथ रहा है । हम ऐसा समझने लगते है कि हमारे देश का सिद्धान्त-विशेष किसी सशोधन की अपेक्षा नही करता । वह स्वय सम्पूर्ण था या है । नवीन ज्ञान के आलोक से हमे इन सकीर्ण धारणाओ को अलग रखना होगा । उन्हे अलग रखकर ही विचार करना होगा । सिद्धान्तो के निरूपण मे नयी शब्दावली का प्रयोग भी आज अपेक्षित हो गया है । प्राचीन सिद्धान्तो की व्याख्या प्राचीन शब्दावली के आधार पर करने से नये शास्त्र-जिज्ञासुओ को लाभ नही होता । अतएव इस दिशा मे हमे आधुनिक ज्ञान और आधुनिक सिद्धान्त-विवेचन की शैली का प्रयोग करना होगा । भारतीय साहित्य की विशेष प्रवृत्तियो को लेकर अनेक प्रबन्ध प्रस्तुत किये जा सकते है । एक बार विशिष्ट सम्प्रदायो का सम्पूर्ण इतिवृत्त और विकास-क्रम प्राप्त हो जाने पर उनका तुलनात्मक विवेचन किया जा सकता है । शब्द-शक्ति के प्रकरण से आरम्भ कर रस-सिद्धान्त के वैज्ञानिक और दाशनिक पक्षो का स्पर्श करते हुये प्राय एक दजन प्रबन्ध आगामी पाँच वर्षों मे प्रस्तुत किये जा सके, तो साहित्य-चिन्तन की दिशा मे आकाक्षित सामग्री एकत्र हो सकती है ।

भाषा-सम्बन्धी मौलिक शोध—भाषा-सम्बन्धी शोध का काय शब्दानुशीलन या शब्दानुशासन पर ही सस्थित हो सकता है क्योकि शब्द या शब्द-तत्त्व से ही भाषा की रूप-रचना होती है, उसके विभिन्न अवयवो का निर्माण होता है । इस

निमित्त सवप्रथम हिन्दी के तत्सम, अधतत्सम, तद्भव, अद्धतद्भव, एव देशज शब्दो का अनुशीलन आवश्यक है जिससे हिन्दी की मूल शब्दावली, मिश्रित शब्द-समूह आदि का ठीक-ठीक अध्ययन हो सके। वतमान समय मे हमारे देश की एक बडी आवश्यकता ऐसे शब्दो के सग्रह की है जो हमारे राष्ट्रीय जीवन के अनेकानेक क्षेत्रो मे प्रयुक्त हो रहे है परन्तु वे साहित्यिको की जानकारी के बाहर है। प्राचीन काल से अब तक अपने देश मे इतने विभिन्न प्रकार के उद्योग-धघे, कला, व्यापार, पेशे आदि विकसित हुए है कि उन सबमे प्रचलित शब्दो का सग्रह आज की एक बडी आवश्यकता है। विभिन्न प्रातो मे इन समस्त उद्योग-धधो एव पेशो के लोग भिन्न भिन्न शब्दो का प्रयोग करते है। इस दृष्टि से अन्त प्रातीय औद्योगिक शब्दकोष की अतिशय आवश्यकता है। इस काय के सम्पादनाथ विभिन्न बोलियो के क्षेत्रो की कृषक तथा औद्योगिक जीवन सबधी पदावली का अनुशीलन सवप्रथम होना चाहिए। श्री राहुल जी ने इस दिशा मे शब्दकोष-निर्माण सबधी काय का सूत्रपात किया था और हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के तत्त्वावधान मे इस प्रकार का एक कोष तयार भी हुआ था। लोक-भाषाओ एव साहित्यिक भाषाओ का शब्द सग्रह, लोकोक्तियो, मुहावरो, कहावतो का सकलन, लोकगीतो मे प्रयुक्त सास्कृतिक शब्दो का सचय तथा अनुशीलन भी महत्त्वपूण है। इस प्रकार के काय को यथोचित रीति से सम्पादित करने पर हिन्दी के पारिभाषिक शब्दो को वैज्ञानिक ढग से निर्मित करने मे बडी सहायता मिल सकती है। इस काय मे सच्ची सफलता प्राप्त करने के लिए आदिम जातियो की भाषा का अध्ययन भी आवश्यक है। शब्द-सग्रह के साथ ही शब्दो के रूप-परिवतन एव अथ परिवतन की प्रवृत्ति, प्रकृति, प्रक्रिया, कारण तथा उनकी व्युत्पत्ति की शोध भी सबधित है। इस दिशा मे हिन्दी तथा उसकी उपभाषाओ के विभिन्न पदो जैसे सज्ञाओ, कारको, परसर्गो, क्रियाओ, सर्वनामो, विशेषणो आदि की व्युत्पत्ति का काम हो रहा है। हिन्दी तथा उसकी उप-भाषाओ एव बोलियो की ध्वनियो का अध्ययन भी आरभ हो गया है। इस दिशा मे भोजपुरी ध्वनियो का डा० विश्वनाथ का तथा लहदा ध्वनियो पर डा० सिद्धेश्वर वर्मा का काय प्रशसनीय है। हिन्दी की वाक्य रचना तथा वाक्य के विभिन्न उपकरणो का अनुशीलन भी हिन्दी भाषा की प्रवृत्ति एव प्रकृति के अध्ययन के लिए आवश्यक है। भाषा सबधी खोज के क्षेत्र मे विश्वविद्यालयो का ध्यान इस दिशा की ओर भी गया है। इस प्रकार के काय को समुचित रूप से सपादित करने पर हिन्दी की बनावट एव प्रकृति का सम्यक् ज्ञान हो सकेगा। हिन्दी की प्रवृत्ति समझने के लिए उसकी पूवज भाषाओ पर अनुशीलन

ावश्यक ही नही, अनिवाय है। हिन्दी के भाषा-मर्मज्ञो का ध्यान भी इस दिशा ी ओर जाना चाहिए। हिन्दी भाषा का सपक अग्रेजी, फारसी, अरबी, द्रविड ादि अनेक सजातीय एव विजातीय भाषाओ से हुआ है। इससे उसके रूप था व्यवहार मे जो परिवतन हुए है उनका अध्ययन भी आवश्यक है। हिन्दी र अन्य प्रातीय भाषाओ के प्रभाव का अनुशीलन और उसके परिवर्तन का ध्ययन भी भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से अपेक्षित है। हिन्दी भाषा की सबध-व्याप्ति वरूपगत अतर के सम्यक् बोध के लिए भी हिन्दी की प्रादेशिक भाषाओ का वतत्र एव तुलनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिए। लोक सस्कृति के उपादानो अभिज्ञान के लिए भी हिन्दी की विभाषाओ एव जनपदीय बोलियो का ध्ययन अपनी अलग महत्ता रखता है। हिन्दी भाषा की प्रकृति, प्रवृत्ति, बनावट, बध-व्याप्ति आदि के अनुशीलन के पश्चात् उसके शब्दानुशासन के लिए याकरण की समस्या आती है जिस पर विश्वविद्यालयो मे अभी बहुत थोडा ाय हुआ है। हिन्दी के वर्णनात्मक व्याकरण तो बहुत लिखे गये है पर उनमे ज्ञानिकता तथा शोध-वत्ति की कमी है। ऐतिहासिक एव तुलनात्मक कमी की र्ति के प्रति भाषाविदो का ध्यान आकर्षित होना चाहिए। इसके पश्चात् भाषा-विज्ञान का सैद्धान्तिक पक्ष भी आता है जिस पर हम अधिकतर पश्चिमी शोध र ही आश्रित रहे है। मौलिक शोध काय के लिए इस ओर पर्याप्त अवकाश । भारतीय भाषाओ के पारस्परिक सबध के अतिरिक्त विश्व-भाषाओ के ारस्परिक सबधो की अभिज्ञता भी आज की विश्व सस्कृति की धारणा और ल्पना के अनुरूप ही है। परन्तु इसके निमित्त अभी वर्षो के अभ्यास की आव-यकता है। बहुभाषाविज्ञ हमारे देश मे धीरे-धीरे कम होते जा रहे है। उनकी ख्या मे निरतर वृद्धि होनी चाहिए। यह तब होगा जब विश्वविद्यालयो मे नेक भाषाओ का अध्ययन-अध्यापन और विविध प्रातो के विद्यार्थियो का म्मेलन अब की अपेक्षा कही अधिक व्यापक रूप मे होने लगेगा। भाषा-सबधी ोध के अनेक विषय ऐसे है जिनके लिए कुछ समय तक प्रतीक्षा करनी होगी। ने इस प्रश्न पर एक अविशेषज्ञ के रूप मे ही विचार किया है, यदि त्रुटियाँ ो तो मुझे क्षमा किया जाय।

कुछ स्फुट विषय १ जन-साहित्य का भाषागत तथा साहित्यिक अनुशीलन— ाहित्य-अनुशीलन मे उपयुक्त प्रमुख वर्गो के अतिरिक्त अन्य कुछ स्फुट विषय ो हमारी दृष्टि मे आते है। इनमे लोक सस्कृति के विभिन्न साहित्यिक पादानो का अध्ययन एक है। विभिन्न प्रदेशो के लोक-साहित्य की समस्त

राशि का सग्रह और प्रकाशन हो जाने पर इस दिशा के अध्ययन का कार्य आगे बढ सकता है। सम्प्रति चार-पाँच सौ लोक-गीतो को लेकर अथवा एक हज़ार कहावतो, पहेलियो को लेकर जो प्रबध प्रस्तुत किये जा रहे है, उनसे प्रान्तीय सस्कृतियो का स्पष्ट परिचय नही मिलता। इस क्षेत्र मे सामग्री-सचय पहला काय है, तत्पश्चात् प्रबन्ध लेखन की दिशा मे उद्योग किया जा सकता है। प्रातीय भाषाओ की रूपरेखाये भी अभी स्पष्ट नही की जा सकी है। साहित्यिक ग्रन्थो मे भाषा-प्रयोग प्रान्त की सीमाओ का अतिक्रमण कर जाता है, जिससे भाषा की प्रान्तीय रूपरेखा का आकलन कठिन हो जाता है। स्वय तुलसीदास और सूरदास जैसे कवि बहुभाषी काव्य के स्रष्टा कहे जा सकते है। अतएव लोक सस्कृति के उपादानो के अध्ययन के द्वारा ही प्रातीय भाषाओ और बोलियो का विशिष्ट स्वरूप उपलब्ध किया जा सकता है। सामान्यत ऐसे प्रबन्धो मे प्राय प्रदेश की सीमा के बाहर से उपकरणो का भी सग्रह कर लिया जाता है। विशेष और प्रातनिष्ठ उपादानो को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत नही किया जाता। लोकोक्तियो, मुहावरो की खोज मे अनुसधाता विभिन्न प्रातो के मुहावरो को मिला-जुलाकर रख देते है। विशिष्ट रूप से प्रातीय मुहावरो की शोध नही हो पाती। इस दिशा मे प्रातीय इकाइयो पर अधिक बल देने की आवश्यकता है। इसी लोक सस्कृति से सम्बद्ध जनपदो की सास्कृतिक सामग्री का निरूपण भी है। परन्तु जनपद शब्द इन दिनो अस्पष्ट अर्थों मे प्रयुक्त हो रहा है। यद्यपि जनपद का सम्ब ध बोलियो-सम्बन्धी इकाई से है परन्तु प्राय लोग किसी ज़िले को ही जनपद मान लेते है। ऐसा करने से साहित्यिक और भाषागत अध्ययन मे बाधा उपस्थित होती है।

२ **प्रादेशिक साहित्यो का तुलनात्मक अध्ययन**—हिन्दी का अनुशीलन यदि वस्तुत राष्ट्रभाषा के स्तर पर पहुँचने का लक्ष्य रखता है तो उसे प्रातीय या प्रादेशिक भाषाओ की उपेक्षा नही करनी होगी। वह समय भी आना चाहिए जब हम हिन्दी काव्य के समसामयिक और समानान्तर प्रादेशिक भाषाओ के काव्यो को भी अनुशीलन का विषय बनाये। विशेषकर ऐसे विश्वविद्यालय जो दो भाषाओ की सधिभूमि पर सस्थित है अपनी दोनो सीमाओ पर दृष्टिपात रखते हुए प्रादेशिक भूमि पर तुलनात्मक अध्ययन का सूत्रपात करें तो अभीष्ट होगा। सम्प्रति 'बँगला का हिन्दी पर प्रभाव' अथवा 'अग्रेज़ी समीक्षा का हिन्दी समीक्षा पर प्रभाव' आदि कुछ विषय चुने जाते हैं, परन्तु इस प्रकार का उद्योग अधिक फलदायी नही हो सकता। भारतीय सस्कृति की एकता के वे तत्त्व प्रकाश मे आने चाहिएँ जो विभिन्न प्रादेशिक साहित्यो

के माध्यम से मुखर हुए है। ऐसे विषयो मे सास्कृतिक एकता और प्रादेशिक विशेषताओ का युगपत् अध्ययन अपेक्षित होगा। विभिन्न प्रादेशिक कवियो के वैशिष्ट्य के विषय मे भी ऐसे अध्ययन अपेक्षित हो सकते है जो जातीय जीवन की समग्रता को केन्द्र बनाकर किये जाये। केवल स्फुट या परिच्छिन्न रूप मे दो कवियो की विशेषताओ के प्रदशन का कोई अथ नही होता। इन सब कार्यो मे हमारा लक्ष्य सास्कृतिक पक्ष के सामूहिक उद्घाटन का ही हो सकता है। वस्तुत लोक सस्कृति और प्रादेशिक सस्कृतियो से सम्बन्धित समस्त अनुशीलन जातीय जीवन की विविधता मे एकता का सकेत करने का लक्ष्य ही रख सकता है।

समाहार—इस निबन्ध मे मैने विषय निर्वाचन की सक्षित भूमि न अपनाकर प्रबन्धो की रूपरेखा पर भी विचार व्यक्त किये है। वस्तुत विषय-निर्वाचन भी विषय की रूपरेखा के साथ ही अपना महत्त्व रखता है। उसके अभाव मे उसका स्वतत्र महत्व नही रह जाता। उसका औचित्य-अनौचित्य भी इसी सदभ मे देखा जाना चाहिए। विषय से सम्बन्धित प्रक्रिया विषय की रूपरेखा पर अवलम्बित है, अतएव यदि मैं केवल विषय-निर्वाचन की सकीर्ण सीमा का अतिक्रमण कर गया होऊँ तो वह मेरे लिए क्षम्य है क्योकि मै दोनो को जुडा हुआ मानता हूँ।

विषय-निर्वाचन के सम्बन्ध मे विचार करते हुए हमे हिन्दी अनुसधान की वतमान स्थिति को भी ध्यान मे रखना पडता है और इसीलिए केवल आगामी पॉच वर्षों के लिए सुझाव रखे गए है। ज्यो-ज्यो यह काय अग्रसर होगा त्यो-त्यो विषय विस्तार मे उसकी सास्कृतिक उपादेयता और सघात मे परिवतन होगे और क्रमश अधिक विशेषज्ञता से समन्वित शोध प्रारम्भ हो सकेगी। आज जिन विषयो को हम शोध के उपयुक्त नही समझते, जिन लेखको को शोध का विषय बनाना नही चाहते, पाच वर्षो के बाद जब हमारा शोध-काय अधिक अतरग और सीमित भूमि मे रहकर विषय की गहराइयो मे जायगा, तब उन्हे भी अपनाना होगा। यह एक विचित्र विरोधाभास है कि जो आज शोध का विषय नही है, कल वह विषय बन सकेगा। कारण यह है कि शोध की क्रिया विस्तार से गहनता की ओर होती है। अभी हिन्दी अनुसधान का कार्य प्रारम्भिक स्थिति मे होने के कारण विस्तार-सापेक्ष है। कुछ समय के पश्चात् वह अपनी छोटी सीमाओ के भीतर सूक्ष्म और गहन अनुशीलन के क्षेत्र मे प्रवेश करेगा, तब अनेकानेक विषयो की, जो आज उपादेय नही है, उपादेयता प्रत्यक्ष होने लगेगी। वतमान स्थिति को देखते हुए विषय-निर्वाचन के कार्य मे हमे दो बातो

का विशेष ध्यान रखना पडता है। एक तो जो ज्ञान स्पष्ट नही है, जा अभिज्ञताएँ केवल वायवीय हैं उन्हे आकार देना। दूसरी, सास्कृतिक एव जातीय जीवन मे उनकी उपयोगिता का विस्मरण न करना। एक प्रकार से आज का विषय-निर्वाचन उदार सास्कृतिक धरातल पर होता है, परन्तु समय आ रहा है जब हम अस्पष्ट ज्ञान और वायवीय अभिज्ञताओ को आकार देने की दृष्टि मे परिवतन करेंगे और विषय की सूक्ष्मताओ मे प्रवेश करते हुए आज की शोध के इन मौलिक उपकरणो को भूल जाने की स्थिति मे पहुँच जायेगे। उस अवसर पर हमे पुन नये सकेतो और नये परामर्शों की आवश्यकता होगी।

डा० भगीरथ मिश्र—

विषय-निर्वाचन—(२)

अनुसधान-काय का सबसे पहला कदम है विषय-निर्वाचन। यह प्रथम करणीय तो है ही, जटिल और कठिन भी है। प्राय इसमे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जैसी कि किसी यात्री के निर्दिष्ट जाने बिना चलना प्रारम्भ कर देने से जो आगे दिग्भ्रमित होकर थोडी दूर चलकर यह अनुभव करे कि वह पूव के बजाय पश्चिम की ओर आ गया है। इस प्रकार समय और श्रम दोनो का अपव्यय होता है। वास्तव मे अनुसधान के विद्यार्थी के मन मे स्वय ही स्पष्ट या अस्पष्ट रूप मे विषय का स्वरूप विद्यमान रहता है। कम से कम अनुसधित्सु के लिए यह अपेक्षित तो है ही। हम आगे विचार करेंगे कि इसकी क्या प्रक्रिया है।

यहाँ पर हम सबसे पहले यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते है कि अभी अनुसधान के क्षेत्र मे विषय-निर्वाचन मे किन प्रणालियो का व्यवहार होता है और उनमे कौन प्रणाली किस रूप मे उपादेय है अथवा क्या उसका कोई तारतम्य भी है ? अभी हमारे बीच विषय-निर्वाचन से सम्बन्धित तीन प्रणालियाँ प्रचलित है। प्रथम योजना-बद्ध प्रणाली है, जो किसी विभाग या सस्था की एक निश्चित अनुसधान योजना से सम्बद्ध होती है। इसके लिए किसी योजना से सम्बद्ध विषयो की एक सूची तैयार की जाती है और उन विषयो पर शोधकर्ता विद्यार्थियो से अनुसधान कराया जाता है। इस प्रकार योजना सम्बन्धी निश्चित निष्कष और परिणाम प्रस्तुत किये जाते हैं। दूसरी, स्वच्छद वैयक्तिक प्रणाली है जो अनुसधित्सु व्यक्ति से सम्बन्ध रखती है। इसमे विद्यार्थी अपनी रुचि और क्षमता के अनुसार कुछ विषयो की चुनकर लाता है और निर्देशक उनमे से जो

उपयुक्त समझता है उसके लिए चुन देता है। ऐसा करते समय वह यह बात ध्यान मे रखता है कि यदि अनुसधित्सु द्वारा प्रस्तुत विषयो मे से कोई विषय अधिक विस्तृत या अति सक्षिप्त है तो, उसे सुधार कर ठीक करदे और अनुसधान के अनुरूप उसका स्तर बना दे। बहुधा ऐसा भी होता है कि सुझाये विषयो मे से कोई भी उपयुक्त न हुआ, तो उन्ही के समान कोई अन्य विषय निर्देशक बना देता है और उसके लिए निश्चित कर देता है। तीसरी प्रणाली वह है जिसमे सामान्यत विषयो की एक सूची प्रतिवष बना ली जाती है और उनमे से कोई विषय अनुसधित्सु की रुचि के अनुकूल चुन लिया जाता है अथवा बना दिया जाता है। यह प्रणाली ही अधिक प्रचलित है। परन्तु, वास्तव मे योजनाबद्ध अनुसधान की प्रणाली अधिक उपयोगी और श्रेष्ठ है। उसमे कई बातो की स्पष्ट विशेषता रहती है। प्रथम तो उसमे निष्कर्ष सामाजिक उपयोग के होते हैं, द्वितीय, उसमे अनुसधान व्यवस्थित ढग से होता है, तृतीय, उसके परिणामो के चुने हुए उपयोगी अशो को प्रकाशित किया जा सकता है जिससे अन्य सस्थाओ को उनसे लाभ उठाने का अवसर मिल सके, चतुथ, इससे दूसरे सस्थानो मे होने वाले कार्यों की पुनरुक्ति की सभावना भी नही रहती। साथ ही यदि सर्वत्र इसी प्रकार की योजनाबद्ध प्रणाली द्वारा काय होने लगे तो वह काय एक दूसरे का पूरक हो सकता है और इस प्रकार साहित्य, इतिहास, दर्शन, शास्त्र, विज्ञान सभी के क्षेत्रो मे एक निश्चित एव नियमित प्रगति की जा सकती है। ऐसे अनुसधान-कार्यो से राष्ट्र के ज्ञान का व्यवस्थित, विशिष्ट और सर्वागीण विकास हो सकता है। परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि इस योजना मे विषय-वितरण का काय सोच समझ कर किया जाय। इस काय मे वैयक्तिक रुचि और क्षमता का भी पूरा ध्यान रखा जाना आवश्यक है जिसका सम्बन्ध द्वितीय प्रणाली से है। इस प्रकार की समन्वित प्रणाली विशेष उपयोगी है। इस प्रकार के काय को सपन्न करने के लिये एक केन्द्रीय अनुसधान-परिषद् की आवश्यकता है, जो योग्यता, क्षमता, रुचि, सामग्री की सुलभता आदि बातो के आधार पर अनुसधान-योजनाओ के वितरण का काय अपने हाथ मे ले और अनुसधान-परिणामो को परस्पर सम्बद्ध और व्यवस्थित कर उनका यथावसर प्रकाशन भी करती रहे।

विषय निर्वाचन के प्रसग मे किसी अनुसधित्सु को विषय देने के पूव हमे जिन बातो पर ध्यान रखने की आवश्यकता है, वे हैं—विषय की उपयुक्तता, रुचि और मनोवृत्ति, लगन, अध्ययन की पृष्ठभूमि और क्षमता, सामग्री की सुलभता, योग्य-निर्देशन की सुगमता, तथा विषय की उपयोगिता और महत्व। आगे

हम इन बातो मे से एक-एक पर विचार कर रहे है ।

१ **विषय की उपयुक्तता**—इस शीषक के अन्तगत हम विषय निर्वाचन से सम्बन्धित प्रथम और प्राथमिक महत्त्व की बात कह रहे है । विषय-निर्वाचन के प्रसग मे अनुससाता की उपयुक्तता के अतिरिक्त विषय भी उपयुक्त है, यह बात हमे कई दृष्टियो से देखनी होती हे । वह अनुसधाता की अभिरुचि, अध्ययन, क्षमता के अनुरूप है, इस बात पर विचार करने के साथ साथ, वह जिस उपाधि के लिए चुना गया है उसके भी उपयुक्त है या नही, यह भी विचारणीय है । प्राय दो उपाधिया अनुसधान काय से सम्बन्धित है जो साहित्य-क्षेत्र के अनुसधाता को उद्दिष्ट होती है—एक पी एच० डी० और दूसरी डी० लिट् (हम प्रयत्न करेगे कि इनके समकक्ष कोई हिन्दी नाम जैसे, विद्यावाचस्पति, महामहोपाध्याय, विद्यावारिधि आदि प्रचलित हो, जो दो स्तरो के हो) । प्रथम स्तर जो आजकल पी-एच० डी० के विद्यार्थियो के लिए वरणीय है, वह तथ्यानुसधान का है जिसे अग्रेजी मे Discovery of Facts कहते हैं । इसमे बौद्धिक प्रौढता और वैचारिक मौलिकता की उतनी अपेक्षा नही जितनी सामग्री सकलन, तथ्यानुशीलन और अध्यवसाय की । अत इस उपाधि के लिए चुने गये विषय ऐसे ही होने चाहिएँ जो तथ्यानुसधान से अधिक सबद्ध हो । द्वितीय स्तर डी० लिट्० ऐसी उपाधियो के लिए है जिनके लिए अधिक उच्च स्तर और अधिक व्यापक विषय हो सकता है । इसके लिए बौद्धिक प्रौढता, सूक्ष्म विवेचन शक्ति और वैचारिक मौलिकता अपेक्षित है । इसमे तत्त्व और सिद्धान्तो के अन्वेषण को महत्त्व दिया जाता है । अतएव इसके चुने गये विषयो मे विचार विवेचन का प्राधान्य होना चाहिए ।

इसके अतिरिक्त विषय-निर्वाचन करते समय हमे यह भी देखना चाहिए कि उसका स्वरूप और क्षेत्र स्पष्ट है, उनमे किसी प्रकार की भ्राति या द्विविधत्व की तो गु जाइश नही है । क्षेत्र आवश्यकता से अधिक सकुचित अथवा अधिक विस्तृत तो नही है । यह बात विषय की शब्दावली का निणय करते समय ध्यान मे रखने की है । शब्दावली द्वारा सूचित विषय अव्याप्ति और अति व्याप्ति दोनो दोषो से तो मुक्त हो ही, साथ ही उससे अनुसधान की दृष्टि भी अभिव्यक्त हो रही है या नही, यह भी देखना आवश्यक है । विषय की शब्दावली मे जिस दृष्टि को लेकर अनुसधाता सामग्री का निरीक्षण-परीक्षण करना चाहता है, वह दृष्टि स्पष्टतया व्यजित होनी चाहिए अथवा उसमे उस मूल सूत्र का सकेत होना चाहिये जिसके सहारे वह सामग्री की मौलिक या नवीन व्याख्या करने जा रहा है । आजकल हमारे सामने प्राय ऐसे विषय आते हैं जिनमे इस प्रकार

के दृष्टिकोण का अभाव रहता है, अतएव विषय की शब्दावली इस पक्ष मे पूर्णतया उपयुक्त है, यह प्रथम विचारणीय बात है।

२ **अभिरुचि और मनोवृत्ति** (Aptitude and inclination)—द्वितीय विचारणीय बात अभिरुचि और मनोवृत्ति की है। अनुसधान-काय मे प्रत्येक व्यक्ति की अभिरुचि नही होती। जिसकी अभिरुचि नही है उसके सिर यह काय थोपना, व्यक्ति और विषय दोनो ही का अहित करना है। इसी प्रकार विषय के निर्वाचन मे भी अभिरुचि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कला के विश्लेषण मे जिसकी रुचि है उसके लिए दाशनिक विवेचन से सम्बन्धित विषय देना अनुचित है। इसी प्रकार भाव-सौन्दय के पारखी को व्याकरण का अध्ययन कराना अनुपयुक्त होगा। अभिरुचि ही नही, वरन् आन्तरिक मनोवृत्ति उस विषय के प्रति चाहिए। अभिरुचि का थोडा बहुत विकास सगति से भी हो जाता है, उसके कारण प्राय वास्तविक मनोवृत्ति का अनुमान लगाया नही जा सकता। अत रुचि के साथ साथ उसकी मनोवृत्ति भी उस विषय मे रमती है। यह जानना बहुत आवश्यक है। मेरा विचार है कि इसके लिए अनुसधित्सु के लिए मौलिक या लिखित परीक्षा जैसा कोई कायक्रम होना चाहिए जिसमे निर्देशक किस विषय मे उसकी मनोवृत्ति रमती है, यह भली भाँति जान सके। वैज्ञानिक विषयो के अनुसधान मे भी मनोवृत्ति का विशेष ध्यान रखा जाता है, तो साहित्यिक विषयो के अनुसधान मे तो इसका ध्यान रखना ही चाहिए।[1]

मनोवृत्ति एक ही प्रकार के नही, वरन् अनेक प्रकार के विषयो के प्रति हो सकती है, अत विद्यार्थी को उन्ही मे से कोई विषय देना उचित होता है। इस प्रकार के मनोवृत्ति-सम्बन्धी परीक्षण पुस्तकालय मे भी किये जा सकते है, जहाँ

1 In selection of a topic for research, the social scientist must rely upon his own inclinations The best and most independent minds rebel against pursuing work which does not satisfy their curiosity Furthermore where research topics are prescribed rather than elected, the pushing forward of the frontiers of knowledge, is handicapped by and limited to the degree of knowledge, the values and the imagination of those who have the power to prescribe No one could have directed Einstein or Freud into inquiries they undertook Even for scientists of more ordinary caliber, the prescription of subject matter eliminates an essential motive for the pursuit of science

{ Research Methods in Social Relations
Part I—by Jahoda and others Page 15,

पर विद्यार्थी अधिकाश किस प्रकार की पुस्तके पढता है, यह देखकर अनुमान लगाया जा सकता है कि उसकी मनोवृत्ति क्या है। साथ ही उसने अपने पूववर्ती जीवन मे जो साहित्य पढा है, उसके आधार पर भी उसकी मनोवृत्ति का निश्चय किया जा सकता है। अत रुचि और मनोवृत्ति की जाच करके ही निर्देशक को कोई विषय अनुसधित्सु के लिये स्वीकार करना चाहिए। इसमे निर्देशक और विद्यार्थी दोनो के लिए बडी सचाई की आवश्यकता है।

३ **लगन** (Devotedness)—विषय के प्रति अभिरुचि और मनोवृत्ति होने पर अनुसधान-काय के लिये सबसे आवश्यक वस्तु लगन (Devotedness) जागृत हो सकती है। लगन के बिना अनुसधान-काय असभव ही है। प्राय ऐसा होता है कि अच्छे-अच्छे विद्यार्थी मनोवृत्ति के प्रतिकूल विषय ले लेते है। उनमे से कुछ ही ऐसे होते है जो अपने सयम, अध्यवसाय और आत्मवशता से उस विषय का निर्वाह कर पाते है, परन्तु अधिकाश उसे छोड बैठते है। मन और रुचि के प्रतिकूल विषय मे उनकी लगन जागृत नही हो सकती और बिना लगन के अनुसधान कार्य कैसे हो? उनके लिए वह पहाड तोडने जैसा कठिन कार्य जान पडता है। पर वही काय उस विषय मे रुचि रखने वाले के लिए मनोरम हो जाता है। अत लगन जिस विषय के प्रति जागृत हो सके वही विषय अनुसधित्सु को चुनना चाहिए और निर्देशक को भी इसका ध्यान रखना आवश्यक है।

४ **अध्ययन की पृष्ठभूमि और क्षमता**—विषय निर्वाचन करते समय दूसरी महत्त्वपूर्ण परीक्षा अनुसधित्सु के अध्ययन की है। अभिरुचि होते हुए भी यदि उस विषय के अध्ययन की पृष्ठभूमि अनुसधित्सु की नही है, तो वह गहराई से विषय का विवेचन और तत्त्वान्वेषण नही कर सकेगा। हमारे बीच प्राय ऐसे प्रकाशित अथवा अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध आते है जो विद्वानो की निगाह मे बडे हल्के पडते है, उसका कारण यही है कि उनके अनुसधाताओ मे उस विषय के अध्ययन की पृष्ठभूमि पहले से विद्यमान् नही थी। यह तो सामान्य विषयो पर किये गए अनुसधान-काय के स्तर की बात हुई। कुछ विषय तो ऐसे हैं कि जो बिना इस पृष्ठभूमि के चल ही नही सकते है। ऐसे विषयो मे थोडी-बहुत पृष्ठभूमि होने पर काय सुगम हो जाता है और परिणाम सुन्दर होता है। सस्कृत भाषा, साहित्य अथवा व्याकरण के अध्ययन के बिना किसी ऐसे विषय को स्वीकृत करना जिसमे सस्कृत के ज्ञान की अपेक्षा हो, अपने सिर पर आपत्ति बुलाना है। इसी प्रकार अग्रेज़ी, बँगला तमिल आदि अन्य भाषाओ के साहित्यो अथवा विशिष्ट प्रवृत्तियो से तुलना वाला विषय

इन भाषाओ के ज्ञान की सवप्रथम अपेक्षा रखता है ।

अध्ययन की पृष्ठभूमि के साथ-साथ विषय के गभीर अध्ययन करने की क्षमता आवश्यक है । इसका सम्बन्ध अध्ययन को आत्मसात् कर विषय मे पारगत होने और उसमे नवीन तत्त्वो के शोध की योग्यता से है । ऐसी दशा मे चचु-प्रवेश मात्र से काम नही चलता, वरन् उस विषय की इतनी योग्यता होनी चाहिए कि विषय से सबधित समस्याओ और प्रश्नो को समझ कर उनका प्रौढ एव प्रामाणिक विवेचन किया जा सके । अध्ययन की पृष्ठभूमि के साथ यदि इस प्रकार का प्रौढ ज्ञान और योग्यता शोधार्थी मे है, तो सचमुच ऐसे कार्यो का परिणाम श्लाघनीय होगा । अनुसधाता मे क्षमता इस बात की भी होनी चाहिए कि वह सामग्री का समुचित उपयोग कर सके । यह न होने पर वह सामग्री की भूल-भुलैयाँ मे भटक सकता है । अत उसमे अध्ययन और क्षमता दोनो ही का होना आवश्यक है । इन दोनो के अभाव मे अनुसधान कार्य अति सामान्य और प्राय उपहास का विषय बन जाता है ।

५ **सामग्री की सुलभता**—किसी भी विषय पर अनुसधान दो बातो पर निभर करता है, एक तो बौद्धिक प्रौढता और वैचारिक क्षमता, दूसरी सामग्री की सुलभता । विषय का निर्वाचन करते समय हमे इन दोनो ही बातो का ध्यान रखना आवश्यक है । बौद्धिक प्रौढता और वैचारिक क्षमता अनुसधित्सु मे होने पर भी यदि विषय से सम्बन्धित समस्त उपयोगी सामग्री प्राप्त न हो सकी, तो निष्कर्षो मे भ्रम हो सकता है और वे गलत हो सकते हैं । उदाहरणाथ, अपभ्र श साहित्य मे लिखे प्रेमाख्यान-काव्य की सामग्री सुलभ न होने पर हम सूफी प्रेमाख्यान-काव्य की परम्परा को फारसी या विदेशी साहित्य मे देखने लगते हैं । इसी प्रकार रसिक सप्रदाय द्वारा प्रणीत रामकाव्य की श्रृगारिक परम्परा का अनुमान केवल रामचरितमानस या रामचद्रिका को पढकर नही लगाया जा सकता जो कि सामाजिक मर्यादा का अधिक ध्यान रखकर लिखे गये हैं, साधना की रसिकता का नही । इसी प्रकार अन्यत्र भी । इस प्रकार विषय-निर्वाचन मे उससे सम्बन्धित सामग्री किस मात्रा मे सुलभ है, यह देखने की प्रथम आवश्यकता है ।

कुछ विषय ऐसे भी होते हैं जो बहुताश मे सामग्री पर ही निभर करते हैं । ऐसे विषयो का निर्वाचन तो सामग्री को देखे बिना किया ही नही जा सकता । इतना ही नहीं, विषय का क्षेत्र और नामकरण भी सामग्री का एक बार निरीक्षण करके ही किया जाना चाहिए । इसका हम कारण भी स्पष्ट कर देना यहाँ

आवश्यक समझते है । हमारा अधिकाश ज्ञान प्रकाशित पुस्तको और इतिहास-ग्रथो के आधार पर बनता है । साहित्य के प्रसग मे अन्वेषको को प्राचीन पुस्तकालयो और सग्रहालयो मे नये-नये, कि तु अब तक अज्ञात मुद्रित या हस्तलिखित ग्रथ उपलब्ध होते रहते है, अत उनका परीक्षण करके ही उनसे सबधित विषय दिये जा सकते है, अन्यथा नही । कभी-कभी ऐसा भी होता है कि खोज रिपोर्टो या अन्यत्र प्राप्त सूचनाओ मे अपूण, अधपूण वा एकागी सूचनाएँ मिल जाती है । ऐसी दशा मे उन पर पूणतया निभर नही किया जा सकता । अत उस सामग्री को अनुसधाता के लिए स्वय देखना अत्यावश्यक है। निश्चय है कि ऐसे विषय सामग्री की सुलभता का अनुमान लगा कर ही दिये जा सकते है । यदि सामग्री सुलभ न हो सकी, तो प्रतिभा सम्पन्न शोधार्थी भी काय को आगे नही बढा सकता । यदि वह कुछ करता है, तो उसके निष्कष नये, मौलिक और प्रामाणिक न होकर भ्रामक हो सकते है । अत सामग्री की सुलभता का ध्यान विषय-निर्वाचन के प्रसग मे बहुत आवश्यक है ।

६ **योग्य निर्देशन**—अनुसधित्सु मे अभिरुचि, अध्ययन की पृष्ठभूमि, बौद्धिक प्रौढता और वैचारिक क्षमता तथा सामग्री सुलभ होने पर भी किसी विषय का निर्वाचन वह योग्य निर्देशन प्राप्त होने पर ही कर सकता है । योग्य निर्देशक के बिना अनुसधान-काय पूणता को प्राप्त नही हो पाता । यो कहने के लिए तो प्रत्येक विश्वविद्यालय का अध्यापक और विशेष रूप से आचाय और अध्यक्ष, प्रत्येक विषय का निर्देशन कर सकता है और करता भी हे, परन्तु यह एक प्रकार का काम-चलाऊ काय है । निर्देशक स्वय विषय का विशेषज्ञ न होने पर योग्य और अध्यवसायी अनुसधाता को न तो प्रोत्साहन ही दे सकता है और न उसकी सूक्ष्म त्रुटियाँ ही बता सकता है । ऐसी दशा मे नवीन सिद्धान्त और तत्त्वान्वेषण योग्य विद्यार्थी भी नही कर सकते । अत विषय-निर्वाचन करते समय निर्देशक की योग्यता और विशेषज्ञता विचारणीय है । यह काय दो प्रकार से हो सकता है, या तो निर्देशक निश्चित होने पर उसको योग्यता और विशेषज्ञता के क्षेत्र मे आने वाले विषय को चुना जाय अथवा विषय अन्य प्रकार से पूर्ण निश्चित होने पर उसमे सुयोग्य निर्देशक की शरण मे जाया जाय । यहा पर यह कह देना अपेक्षित है कि अनुसधाता को बढती सख्या के अनुसार सुयोग्य निर्देशको का एक प्रकार से अभाव ही सा जान पडता है । दूसरी बात, जो विशेष महत्वपूर्ण और ध्यान देने की, जोर देने की है कि विश्वविद्यालयो मे अनुसधान-कार्य प्राथमिक महत्ता नही प्राप्त कर सका । वह एक गौण सा काय समझा जाता है। यह धारणा और भावना बडी हानिकारक है। अनुसधान काय विश्वविद्यालय का

सर्व-प्रमुख काय है और इस काय को निश्चित सुविधा और मान्यता प्रदान की जानी चाहिये। अनुसधान-पीठ, अनुसधान कक्ष और अनुसधानाचाय विश्व-विद्यालयो मे अलग से होने चाहिए और इनकी ओर विश्वविद्यालय के अधिकारियो को सबसे पहले ध्यान देना चाहिए।

७ विषय की उपयोगिता और महत्त्व—इन बातो के अतिरिक्त विषय की उपयोगिता और महत्त्व का भी विचार आवश्यक है। वैसे तो ज्ञान के क्षेत्र मे कोई भी विषय अनुपयोगी नही है, परन्तु सामाजिक और सास्कृतिक जीवन के लिए जो विषय उपयोगी और महत्त्वपूरण है उन पर अनुसधान को प्राथमिकता देनी चाहिए। विषय की उपयोगिता सूचना और ज्ञानवृद्धि दोनो ही की दृष्टि से हो सकती है। इस प्रकार के विषय चुनने से जिनकी कोई सामाजिक उपयोगिता है, सामाजिक जीवन और ज्ञान का विकास होता है। इसके अतिरिक्त विषय महत्त्वपूरण होने से अनुसधित्सु अधिक उत्साह और गौरव के साथ अपने काय मे अग्रसर होता है। जैसा कि पहले सकेत किया जा चुका है, यह उत्साह और अनुसधान-काय के महत्त्व के कारण गौरव की भावना ही अनुसधान-कार्य का वास्तविक पुरस्कार है। यदि अनुसधाता के काय को उस महत्त्व के गौरव का अनुभव होने लगता है, तो वह अधिक गहरी लगन और अध्यवसाय से कार्य मे सलग्न होता है। इसके अतिरिक्त इसका और एक बडा उपयोग यह है कि इस भावना से काय करने मे अनुसधान-काय की गौरवमयी परम्परा पड जाती है जो अपना निजी, सामाजिक और राष्ट्रीय महत्त्व रखती है। ज्ञानानुसधान के क्षेत्र मे इसी महत्त्व के गौरव की स्पृहा वाछनीय है। अन्य स्थूल स्वार्थो को दृष्टि मे रखकर अनुसधान जैसा काय अपनी निजी महत्ता खो बैठता है। वह निजी महत्ता विषय की निजी उपयोगिता और महत्त्व मे स्वत निहित रहती है।

वास्तव मे अनुसधान-कार्य एक पवित्र और निरपेक्ष काय है। विषय के निर्वाचन के साथ ही यह आवश्यक है कि निर्देशक अनुसधाता मे उसके महत्व की भावना भली भाँति भर दे। इस भावना को लेकर ही, अनुसधाता उस निजी काय के गौरव का अनुभव करने लगेगा और उसमे उसकी गभीर अभिरुचि और लगन जागृत होगी, साथ ही वह अदम्य उत्साह से विषय के एक एक निष्कर्ष और परिणाम निकालने मे अपूव आनद का अनुभव करने लगेगा। अनुसधान-कार्य मे इस प्रकार के आनद की अनुभूति ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व और सिद्धान्तो को खोज निकालने और सामग्री को खोजने और उसका अनुशीलन करने की अद्भुत क्षमता जागृत करती है।

निर्देशक वास्तव मे अनुसधाता को सामग्री, सूचना और तत्त्व या सिद्धान्त

स्वय निकाल कर नही देता । जो ऐसा समझते है वे भ्रम करते है । निर्देशक अनुसधाता को एक दृष्टि प्रदान करता है । वह उसके अध्ययन को फिर से देखने की एक ज्योति देता है जिसके आलोक मे वह नवीन तथ्यो और तत्त्वो को खोज सकता है । निर्देशक से इस दृष्टि या ज्योति को पाकर ही अनुसधाता मे अस्पष्ट, अज्ञात, या अधज्ञात विषय स्पष्ट हो जाते है । विषय के सम्पूर्ण क्षेत्र का उद्घाटन भी यही दृष्टि करती है । जो अत्यन्त छोटे विषय लगते है वे निर्देशक द्वारा दृष्टि प्राप्त होने पर विस्तृत हो जाते है । उलझे, अस्पष्ट और असीम लगने वाले विषय सुलझ कर स्पष्ट हो जाते है और उनकी सीमाये दिखाई देने लगती है ।

इस प्रकार विषय के स्पष्टीकरण के साथ ही साथ अपनी अभिरुचि, मनोवृत्ति तथा क्षमता की पहचान भी अनुसधाता को सुयोग्य निर्देशक का सपक और आश्रय लाभ होने पर ही प्राप्त होती है । वह अपनी अभिरुचि और क्षमता के प्रति जागरूक होते ही एक अपूव उत्साह और विलक्षण गहरी लगन का अनुभव करने लगता है और वह चाहता है कि बस अनुसधान काय मे वह जुट जाये। वह तुरन्त सामग्री को उसी नई दृष्टि से देखकर जो उसे निर्देशक से प्राप्त हुई है, उन नये परिणामो और निष्कर्षों की जाँच करना चाहता है जिनकी ओर उसे सकेत मिला हे । इस स्थिति को प्राप्त कर ही अनुसधान काय वास्तविक रूप ग्रहण करता है । अन्यथा वह एक मखौल या बेगार बन जाता है ।

इस बातो पर यदि हम ध्यानपूवक विचार करते है तो हमे पता चलता है विषय निर्वाचन जैसा अनुसधान-काय का अति उपेक्षित अग कितना महत्त्व रखता है । यह अनुसधान-काय का बीज है, उसे ठीक-ठीक रीति से समुचित धरती पर आरोपित करने से सुन्दर परिणाम के फल-फूल निकल सकते है, अन्यथा बीज के निबल और भूमि के अनुवर होने पर सारा परिश्रम व्यथ हो जाता है । आशा है हम इस विषय-निर्वाचन के काय को समुचित महत्त्व देकर अनुसधान काय की गौरवमयी परम्पराएँ बनाने का हृदय से प्रयत्न करेंगे ।

आचार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—

शोध-सामग्री

मेरा विचारणीय विषय है शोध की सामग्री का सकलन। स्पष्ट ही यह विषय बहुत ही विस्तृत है, क्योकि शोध के विषय और प्रकार के अनुसार ही सामग्री की बात सोची जा सकती है। 'शोध' शब्द का प्रयोग 'रिसच' शब्द के अथ मे होने लगा है। 'रिसच' मे 'रि' उपसग मृशाथक भी है और गभीर अभिनिवेशार्थक भी। स्थूल अर्थो मे वह नवीन और विस्मृत तत्त्वो का अनुसधान है जिसको अग्रेजी मे 'डिसकवरी आफ फैक्टस' कहते है। और सूक्ष्म अर्थ मे वह ज्ञात साहित्य के पुनर्मूल्याकन और नई व्याख्याओ का सूचक है। दोनो ही अर्थो मे वह मनुष्य के बाह्य और अन्तर विकास की कडियो का अनुसधान है। कडिया खोई हुई और विस्मृत भी हो सकती है और अपख्यात और व्याख्यात भी हो सकती है। इसीलिये प्राय सभी विश्वविद्यालयो मे शोध के लिये दो शर्ते लगा दी गई है। पहली शत तो यह है कि शोध का प्रबन्ध ऐसा होना चाहिए जिसमे अज्ञात या अल्पज्ञात विषयो का अनुसधान हो और दूसरी शत यह है कि पुराने पडितो द्वारा स्थापित और गृहीत मान्यताओ का नये तथ्यो के आलोक मे पुनर्मूल्याकन या नवीन व्याख्या। शोध-प्रबन्ध मे दोनो मे से एक भी हो तो वह स्वीकाय होता है, दोनो ही हो, तो और भी अच्छा। इसीलिये शोध के लिये सामग्री सकलन के समय इन दोनो बातो का ध्यान रखना परम आवश्यक हो जाता है। सच तो यह है कि तथ्यो का, अनुसधान के द्वारा, पुनर्मूल्याकन और नई व्याख्या हो ही नही सकती। तथ्य ऐसे होने चाहिए जिनकी प्रामाणिकता निस्सदिग्ध हो, और प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए गवाहियाँ भी ऐसी होनी चाहिए जो प्रामाणिक हो। अवितथ

सत्य और अनासक्त दृष्टि शोध विद्यार्थी के लिये परम आवश्यक है, बल्कि ये दो बाते उसके निर्देशक सिद्धान्त के रूप मे मानी जानी चाहिए।

अब इन बातो को ध्यान मे रखकर अनुसन्धाता को शोध सामग्री का सकलन करना पडता है। हिन्दी मे जो शोध-विषय विभिन्न विश्वविद्यालयो मे स्वीकृत हुए है उनको कुछ मोटे विभागो मे इस प्रकार बाँटा जा सकता है

१ मध्यकालीन साहित्य के ग्रन्थो और व्यक्तियो के सम्बन्ध मे अवितथ सामग्री की खोज और उसके द्वारा साहित्य-इतिहास का पुनर्निर्माण।

२ मध्यकालीन साहित्य मे अभिव्यक्त विभिन्न प्रकार की धार्मिक, सामाजिक, सास्कृतिक विचारधाराओ का यथाथ स्वरूप-निर्धारण।

३ मध्यकालीन साहित्य के विविध साहित्य-रूपो, शैलियो, छन्दो, अलकारो आदि का यथाथ विवेचन।

४ मध्यकालीन भाषा के विभिन्न रूपो का विश्लेषण, पूववर्ती भाषा से उनके विकास का सूत्र सधान और परवर्ती भाषा के विकास मे उनके योग दान का यथाथ स्वरूप-निर्धारण।

५ आधुनिक काल के अपेक्षाकृत पुरानी भाषा और साहित्य-सम्बन्धी आन्दोलनो और नवीन विचारो के अभ्युदय का यथाथ स्वरूप-निर्धारण।

६ आधुनिक साहित्य को विशेष रूप से समृद्ध करने वाले साहित्यकारो का उचित परिपाश्व मे उचित मूल्याकन।

७ आधुनिकतम साहित्य मे विशेष विचारधाराओ के अभ्युदय का हेतु, स्वरूप और परिणाम-निर्धारण।

८ लोकभाषाओ मे सुरक्षित गीतो, लोक गाथाओ, कथाओ, आदि का सकलन, सपादन और मूल्याकन।

९ विभिन्न क्षेत्रो की उपभाषाओ मे व्यवहृत लोक-शब्दावली का सधान और मूल्याकन।

१० व्याकरण और भाषा विज्ञान से सम्बद्ध विषयो जैसे नामधातु, परसग, अनुकरण-मूलक धातु, क्रिया, अव्यय आदि के विकास का अध्ययन और ध्वनि-विचार, अथ-विस्तार, वाक्य-विन्यास का विचार और उनके विकास आदि का अनुशीलन।

११ प्राचीन ग्रन्थो का वैज्ञानिक ढग से पाठ-सकलन और सम्पादन।

साधारणत इन ग्यारह मोटे विभागो मे विश्वविद्यालयो द्वारा स्वीकृत हिन्दी शोध-विषयो का अन्तर्भाव हो जाता है। ग्रन्थो के वैज्ञानिक पर्यालोचन और सम्पादन जैसे विषय अभी उतने लोकप्रिय नही हुए हैं परन्तु विश्व-

विद्यालयो ने ऐसे विषयो की स्वीकृति देना भी प्राय प्रारम्भ कर दिया है। आशा है ऐसे गभीर विषयो की ओर भी शोध-प्रेमी विद्वान अधिकाधिक आकृष्ट होगे।

इन विषयो को सामग्री की दृष्टि से चार मोटे विभागो मे बाट लिया जा सकता है

१ मध्यकालीन लोक-भाषा के उस साहित्य का अध्ययन जो पुराना हिन्दी साहित्य कहा जाता है।
२ भाषा-विज्ञान और व्याकरण आदि का अध्ययन।
३ साहित्य-रूपो, छदो अलकारो, शैलियो अर्थात् साहित्य के कला-पक्ष का अध्ययन, और
४ आधुनिक साहित्य का अध्ययन।

शोध या रिसर्च क्या है ?

वस्तुत शोध या रिसच भी आधुनिकता की ही देन है। पुराने ज़माने मे पडित और शास्त्र निष्णात बनने की जो धुन थी, वह आधुनिक युग के रिसच या शोध की इच्छा से थोडी भिन्न थी। विज्ञान के द्वारा सुलभ किए गए साधनो ने ही उस अनासक्त उदार अध्ययन-निष्ठा को जन्म दिया है जिसका आनुषगिक फल आधुनिक विश्वविद्यालयो के शोध-प्रयत्न है। वैज्ञानिक साधनो के विकास और उसके द्वारा निरतर पोषित सामाजिक विकास के साथ साथ शोध-सम्बन्धी विचारो मे भी क्रमश विकास होता रहा है। उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे नये वैज्ञानिक साधनो ने यातायात की कठिनाइयाँ दूर कर दी और यूरोपीय देशो ने दूर-दूर के देशो पर कब्ज़ा करके अपने-अपने देशो की समृद्धि बढाई, उसी समय पुराने ध्वसावशेषो की खुदाई बडे पैमाने पर की जाने लगी। १८२९ ई० मे रोम का प्रसिद्ध आरक्योलाजिकल इन्स्टीट्यूट खोला गया। रोम और एथेस के फ्रेच स्कूलो की स्थापना क्रमश सन् १८४६ और सन् १८७३ मे हुई। इन्ही मे अमेरिकन स्कूलो की स्थापना क्रमश १८८२ और १८९२ ई० और ब्रिटिश स्कूलो की क्रमश १८८३ और १९०१ ई० मे स्थापना की गई। देखते-देखते ट्राय, डेल्फी, माइसेना, टाइरिन्स, स्पार्टा, ओलिम्पिया, एपिडारस, डोडोना, डेल्स, क्रीट आदि प्राचीन स्थानो की खुदाई हुई और प्राचीन जगत की आश्चर्य-चकित कर देने वाली बातो का पता लगा। मिस्र देश की पेपरी पोपियो की खुदाई से महत्त्वपूर्ण साहित्य का भी पता लगा। अरस्तू द्वारा रचित 'एथेन्स का सविधान' जैसा बहुमूल्य ग्रन्थ (सन् १८९७ इ०) ऐसे ही अनुसधान के

फलस्वरूप हाथ लगा। इन खुदाइयो मे उपलब्ध सामग्री की जाँच के लिए उपलब्ध पुराने साहित्य को नये सिरे से समझने का प्रयत्न हुआ। इस प्रकार प्राचीन शास्त्रो के सास्कृतिक और ऐतिहासिक अध्ययन को बल मिला। पुरानी टीकाओ की व्याख्या को एकमात्र प्रमाण मानने की प्रवृत्ति समाप्त हुई और शास्त्रीय अध्ययन और पुरातत्त्व एक-दूसरे के पूरक और सहायक रूप मे प्रवीत होने लगे। यूरोप मे जिन दिनो इस प्रकार की शास्त्र निष्ठा वेग से विद्वज्जनो को प्रेरणा दे रही थी, उसी समय भारनवष के पुराने साहित्य और पुरावृत्त के अनुसधान का भी क्रम शुरू हुआ। यहाँ भी यूरोपीय विद्वान् इस कार्य मे सयत्न थे। यद्यपि भारत सरकार ने देर मे आरक्योलाजिकल सर्वेक्षण को अपना स्थायी और पूण सरक्षण दिया, पर आरक्योलाजी का अनुसधान बहुत पहले ही पर्याप्त निष्ठा के साथ आरम्भ हो गया था। सर विलियम जोन्स ने कलकत्ते में 'एसियाटिक सोसायटी आफ बगाल' नामक विद्वत्सभा की स्थापना की थी, जो आगे चलकर भारतीय विद्या के उद्धार मे बहुत महत्त्वपूर्ण काय कर सकी। इस देश के पुराने स्थानो की खुदाई और पुरानी लिपियों के पुनरुद्धार की कहानी जितनी मनोरजक है, उतनी ही प्रेरणा देने वाली। यूरोप के अनेक कृती विद्वानो ने तन, मन धन लगाकर ज्ञान की इस दीपशिखा का आलोक उज्ज्वल किया। अकेले कोनब्रुक ने पुरानी पोथियो के सधान मे दस हजार पौड से अधिक खर्च किया। पुरातत्त्व के अध्ययन ने भाषा-विज्ञान और नृतत्त्व-विज्ञान के अध्ययन को प्रोत्साहन दिया। इन्ही भूली बातो को खोजने और उह अवितथ भाव से लोकगोचर करने के प्रयत्नो को अग्रेजी मे 'रिसच' नाम दिया गया। इस शब्द मे 'रि' उपसग उतना पुनरथक नही है जितना पौनपुनिक अभिनिवेश और गभीर प्रयत्न का द्योतक है। परन्तु है वह शोध या अनुसधान का ही सूचक। वस्तुत उन्नीसवी शताब्दी का समूचा पाडित्य प्राचीन और विस्मृत इतिहास के शोध और परीक्षण पर ही बल देता है।

जिन दिनो की बात हो रही है उन दिनो नृतत्त्व-विज्ञान को पुरातत्त्व के यथाथ और अवितथ अध्ययन मे सहायक रूप से ही ग्रहण किया गया था। अनेक आदिम जातियो की रहन-सहन, रीति नीति, धार्मिक विश्वास आदि ने उन दिनो क्लासिक पुरावृत्त के अध्ययन को बिल दया था। बहुत दिनो तक पुराने ग्रन्थो के पाठो के अध्ययन और सम्पादन और काव्य-रूपो की आलोचना को ही नये ढग से पडितो ने बहुमान दिया, फिर धीरे-धीरे लेखको और ग्रन्थो की अन्तरग तथा बहिरग परीक्षा के आधार पर काल-निणय का प्रयास प्रमुख

हो उठा । पुरावृत्त के अध्ययन मे इन सबका उपयोग था । जब तक शुद्ध और प्रामाणिक पाठ न उपलब्ध हो जाय और जब तक इस पाठ के लेखक के प्रामाणिक काल का पता न चल जाय, तब तक उनके आधार पर ध्वसावशेपो से प्राप्त सामग्री का, उस काल की सामाजिक स्थिति का और भापा तथा विचारो का उचित अध्ययन नही हो सकता । इन सबके परिणामस्वरूप प्रसिद्ध और सवमान्य लेखको और ग्रन्थो के विपय मे अनेक ऊहापोह हुए और ज्ञात जगत के प्राचीन साहित्य और इतिहास के सम्बन्ध मे एक मोटी सी रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकी। पुरावृत्त के अध्ययन के सहायक शास्त्रो मे क्रमश विकास होता गया और कालान्‌ र मे अनेक शास्त्र विद्वानो द्वारा उद्‌भूत और प्रतिष्ठित हुए । उनके साथ ही साथ शोध का क्षेत्र भी विम्तृत होता गया । अठारहवी शती मे जिस इतिहास को 'विश्वकोष की मर्यादा' (डिग्निटी आफ एन एनसाइक्लोपीडिया) के योग्य भी नही समझा जाता था वह विद्वज्जनोचित प्रमुख विषय बन गया । इतिहास के बारे मे विचार बदले । अब वह केवल राजाओ और राजपुरुषो के उत्थान-पतन का विनिगमक न रहकर समूची मनुष्यता के अग्रसर होने या पीछे हटने या ठिठक रहने की जीवन्त कथा के रूप मे ग्रहण किया जाने लगा । इस विचार का एक बहुत महत्वपूण परिणाम यह हुआ कि केवल प्रमिद्ध और शास्त्र विश्रुत आचाय और उनके ग्रन्थ ही अध्ययन के विषय नही रह गए, कम ख्यात और अख्यात लेखको की रचनाओ का महत्त्व भी स्वीकृत हुआ । शिलापट्टो, भित्तिगात्रो, दानपत्रो और साधारण जीवन के दैनिक व्यवहार के चिट्ठी-पत्रो का महत्त्व स्वीकार किया जाने लगा और इन वस्तुओ की खोजबीन से महत्त्वपूण सास्कृतिक, सामाजिक और ऐतिहासिक विकास के इगित पाए गए । ये वस्तुएँ ही शोध सामग्री के रूप मे समादृत हुई ।

इस प्रकार वर्तमान शताब्दी के आरम्भ मे शोध का क्षेत्र बहुत विस्तीर्ण हो गया । मनुष्य के ऐतिहासिक विकास का कोई अग शोध-काय के अनुपयुक्त नही माना गया । यद्यपि विश्वविद्यालयो ने इन कार्यो को बहुत सावधानी के साथ फूंक फूककर कदम बढाते हुए स्वीकार किया, परन्तु अनेक विद्वत्प्रतिष्ठानो, शोध-पत्रिकाओ, वार्षिक विद्वत्सम्मेलनो और सरकार द्वारा स्थापित पुरातत्त्व, भाषा और मनुष्य-गणना के सर्वेक्षणीय प्रयत्नो ने प्राचीन और नवीन ज्ञान का बहुत अच्छा मथन किया । आज इन प्रयत्नो के सम्मिलित परिणाम आश्चर्य-जनक और आशाजनक जान पडते है, किन्तु आरम्भ मे जिन्होने इन प्रयत्नो को आरम्भ किया था, उन्हे भयकर आशकाओ और कठिनाइयो के भीतर मे बढना पडा था । निस्सदेह वे हमारी हार्दिक कृतज्ञता और प्रणिपात के अधिकारी है ।

उन्नीसवी शताब्दी मे विदेशी विद्वानो ने कठिन परिश्रम के बाद भारतीय इतिहास का सपूर्ण चित्र प्रकाशित करने का प्रयत्न किया। उन्ही दिनो उनका थोडा-बहुत ध्यान हिन्दी तथा अन्य देशी भाषाओ के साहित्य की ओर भी गया। उनका प्रधान उद्देश्य था 'ऐतिहासिक' समझी जाने वाली सामग्री का पता लगाना। इसी दृष्टि से शुरू शुरू मे हिन्दी तथा अन्य देशी भाषाओ के साहित्य का अध्ययन आरम्भ हुआ। उन दिनो शोध प्रिय विद्वत्सभाओ की ओर से ऐसे ग्रन्थो के प्रकाशन का यत्न किया गया, जिनसे कुछ ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होने की आशा थी। बाद मे कुछ विदेशी पडितो की रुचि भाषा-विकास की ओर भी हुई और इस दृष्टि से भी हिन्दी के पुराने ग्रन्थो के अध्ययन का प्रयत्न किया गया। इन दो उद्देश्यो के अतिरिक्त एक तीसरा उद्देश्य और भी था, जिसे सामने रखकर कई विदेशी पडितो ने हिन्दी के कुछ धार्मिक ग्रन्थो का अध्ययन किया। इन दिनो ईसाई धम के प्रचार मे कई विदेशी धमयाजक प्रयत्नशील थे। उन्होने हिन्दी मे लिखे धार्मिक ग्रन्थो का अध्ययन उन लोगो के सस्कारो और विश्वासो के अध्ययन के लिए ही शुरू किया था, जिनके बीच उन्हे अपने धम का प्रचार करना पडता था। कहना बेकार है कि इस प्रकार की दृष्टि वैज्ञानिक अध्ययन के लिए बहुत ही सदोष है, फिर भी यह सत्य है कि इस उद्देश्य को सामने रखकर जिन लोगो ने अध्ययन आरम्भ किया था उ होने भी कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण काय किये जो भावी वैज्ञानिक अध्ययन के लिए सहायक सिद्ध हुए। यद्यपि इस देश मे जिस विदेशी जाति से भारतवष का सपर्क हुआ वह अपने भारतीय समृद्धि के शोषक रूप मे ही परिचित है, तथापि उस जाति के चित्त मे विज्ञान प्रेम अकुरित हो चुका था, और उसकी दृष्टि मे एक प्रकार का बौद्धिक वैराग्य और विवेक प्रतिष्ठित हो चुका था। सौभाग्यवश आरम्भ मे भारतवर्ष को अनेक उदार और कृती विद्वानो का सहयोग प्राप्त हुआ, और किसी किसी क्षेत्र मे छोटे उद्देश्यो को सामने रखकर काम करने पर भी इन पडितो ने बडे परिश्रम से हमारे साहित्य के अध्ययन का माग प्रशस्त किया। विशुद्ध ज्ञान-साधना ही जिनका उद्देश्य था, उन्होने हिन्दी-ग्रन्थो का अध्ययन ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त करने और भाषा-विकास की अवस्थाओ की जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से ही किया। बहुत दिनो तक विदेशी विद्वानो के मन मे भी हिन्दी-साहित्य के पुराने ग्रन्थो का यदि कोई महत्त्व था तो इन्ही दो कारणो से। साहित्यिक दृष्टि से हिन्दी ग्रन्थो के अध्ययन का कार्य बहुत बाद मे शुरू हुआ। वस्तुत अपने-अपने देशो मे भी उस समय तक यूरोपीयन पडितो का ध्यान अपनी मातृभाषा या लोक-भाषा या लोक भाषा के ग्रन्थो की ओर

प्राय नही गया था। किन्तु ऐसा लगता है कि जिन विदेशी पडितो ने ऐतिहासिक सामग्री पाने की लालसा से ही इस साहित्य का अध्ययन आरम्भ किया था, उनका उत्साह बहुत देर तक नही टिक सका। पृथ्वीराज रासो की तिथियाँ विवाद का विषय सिद्ध हुई, पद्मावत की ऐतिहासिक मानी जाने वाली घटना की प्रामाणिकता सन्देहात्मक समझी गई। कई अन्य दरबारी और चारण कवियो की रचनाओ की प्रामाणिकता भी विवादास्पद साबित हुई। इधर तत्तत् बादशाहो के समसामयिक मुस्लिम ग्रन्थकारो की रचनाओ से ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक विश्वसनीय सामग्री प्राप्त होने लगी। ऐतिहासिक पडितो का झुकाव उसी ओर होता गया। हिन्दी ग्रन्थो के अध्ययन का उत्साह ठडा पड गया। उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक यूरोपियन पडित हिन्दी साहित्य से प्राय उदासीन हो गये, परन्तु सौभाग्यवश हिन्दी के विद्वानो ने स्वय अपने ऊपर इस कार्य को ले लिया। सस्कृत, पाली, प्राकृत आदि ग्रन्थो का सम्पादन, अनुवाद और अध्ययन विदेशी पडितो ने जिस लगन के साथ किया था उसकी आधी निष्ठा के साथ भी हिन्दी के किसी ग्रन्थ का नही किया।

उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध भाग मे यूरोप मे सारे ससार की क्लासिक समझी जाने वाली रचनाओ के शुद्ध और अवितथ अनुवाद की धूम मच गई। इन अनुवादो के प्रधान प्रेरक-सूत्र दो थे—(१) अनुवाद यथासभव अवितथ हो ताकि मूल पढे बिना भी केवल अनुवाद के आधार पर मूल ग्रन्थ की पूर्ण विशेषता समझ मे आ जाए, और (२) भाषा सहज बोध्य, सुपाठ्य और प्रवाहयुक्त हो। इस प्रकार का प्रयत्न बहुत ही कठिन था परन्तु यूरोपीय विद्वानो ने पाद-टिप्पणियो, व्याख्यात्मक टिप्पणियो, परिस्थिति को स्पष्ट करने वाली भूमिकाओ और परिशिष्टो को जोडकर इस असाध्य साधन व्रत को पूरा किया। हमारे देश के सस्कृत, प्राकृत, पाली तथा देशी भाषाओ के अनेक ग्रन्थ इन्ही दिनो अग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन भाषाओ मे अनूदित हुए। जो लोग इन अनुवादो से परिचित है वे ही जानते है कि कितने गहन परिश्रम के बाद ये अनुवाद प्रकाशित किए गए है। हमारे देश के अनेक कृती विद्वानो ने भी विदेशी भाषाओ विशेषकर अग्रेजी भाषा मे अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियो का प्रामाणिक अनुवाद प्रकाशित किया है।

शोध-प्रतिष्ठानो ने समसामयिक विचार को भी सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है। भविष्य के कार्यकर्ताओ की जानकारी के लिए विद्वानो के उन मनोभावो की जानकारी भी आवश्यक है, जिनसे प्रेरित होकर उन्होने महत्वपूर्ण ग्रन्थो का सपादन या अनुवाद किया या नये सिद्धान्तो का बीजारोप किया।

अपने समसामयिक साहित्यकारो से उनकी रचनाओ के बारे मे जो स्वोक्तियाँ प्रकाशित की हैं वे भावी शोधकर्ताओ के लिए बहुत उपयोगी होगी । मैं समझता हूँ यह काय और भी व्यापक रूप से होना चाहिए । साथ ही पुरातन साहित्य के सपादन, प्रकाशन और अनुवाद आदि का काम भी यथाशक्ति हाथ मे लेना चाहिए ।

अब तक जिन प्रयत्नो के बारे मे कहा गया है उनके मूल मे ज्ञान की प्रबल भूख है । जैसे-जसे ज्ञान के नए क्षेत्रो का पता लगता गया है वैसे-वैसे महाप्राण विद्वानो की ज्ञान पिपासा बढती गई है । यही निरन्तर वधमान ज्ञान-पिपासा शोध काय का मूल मन्त्र है । जिसमे एक बार यह पिपासा जाग्रत हो गई उसे कोई परिश्रम और अध्यवसाय से रोक नही सकता है । पिछले डेढ सौ वर्षों के भारतवष के इतिहास को ही यदि आप ध्यान से देखे तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि पुराने इतिहास के शोध के क्षेत्र मे दुनिया ही बदल गई है । एक जमाना था कि अशोक के शिलालेखो को कोई पढने वाला नही था । ऐतिहासिक स्थानो के सम्बन्ध मे ऊटपटाग लोक प्रवाद व्यापक रूप मे चल रहे थे, किन्तु आज हमारे सामने प्रामाणिक तथ्यो का अपार भडार उद्घाटित है और फिर भी वह भडार पूरा नही है । अभी न जाने कितना कुछ साधको की इन्तजारी मे धूल मे ढका हुआ है । फिर यदि ससारव्यापी शोध-काय की ओर दृष्टि फिराएँ तो और भी चकित हो जाना पडता है । कोई देश या राष्ट्र स्वतन्त्र भाव से विकसित नही हुआ है । सुदूर अतीत से जहाँ तक ज्ञान-रश्मियो का क्षेपण शोध पडितो ने किया है वहा तक स्पष्ट दिखाई देता है कि राष्ट्रीय, धार्मिक और जातीय दलो मे विभक्त होते हुए भी मनुष्य ने एक दूसरे को दिया है, एक दूसरे से लिया है । सघर्षों और विकट द्वन्द्वो के ऊपर महाकाल देवता ने विस्मृति का पर्दा डाल दिया है और आदान-प्रदान के मिलन सूत्र को दृढ से दृढतर बनाया है । कठोर सघर्षों के अतराल मे विशाल मनुष्य जाति का निर्माण निर्बाध गति से होता आया है ।

ज्ञान की प्रबल पिपासा ने मनुष्य को शोध-प्रवृत्ति दी है और जब तक यह पिपासा है तब तक शोध के काम मे न शिथिलता आएगी, न विस्तार या पिष्ट-पेषण की आशका होगी । वस्तुत इन दिनो विश्वविद्यालयो के द्वारा किए-कराए जाने वाले शोध की एक बडी त्रुटि यह है कि वे सब समय विशुद्ध और दुर्दम जिज्ञासा द्वारा चालित नही होते । पदोन्नति, जीविका-प्राप्ति और अल्पायासलभ्य यशोलिप्सा इस काय मे जब प्रेरक वृत्ति के रूप मे काम करने लगती है तो अपने साथ बहुत से दोष ले आती है । मुझे खेद के साथ स्वीकार करना

पडता है कि ये वृत्तियाँ शोध-काय को प्राय: प्रेरणा देती दिखाई देती है। यदि समय रहते इन्हे ऐसा करने से न रोका गया तो शोध-काय भी अन्य परीक्षाओ को पास करने की भाति साफल्य लाभ के कौशल की कोटि मे चला जाएगा। हमे प्रयत्न करना चाहिए कि ज्ञान की साधना मे कोई कलुष न आने पावे।

जहा तक पुराने हिन्दी साहित्य के इतिहास के अध्ययन और पुर्ननिर्माण का प्रश्न है मेरा निश्चित और दृढ विश्वास है कि यह इतिहास केवल सयोग और सौभाग्यवश प्राप्त हुई पुस्तको के आधार पर नही लिखा जा सकता। बहुत जगह हमे पक्तियो के बीच मे पढना पडेगा। मै उदाहरण देकर अपनी बात समझाने का प्रयत्न करूँगा। सामग्री पर विचार करते समय उन इगितो की बात हम नही छोड सकते जो द्वन्द्वो, मुहावरो, लोकोक्तियो, काव्य-रूपो, छन्दो आदि से निश्चित रूप मे प्राप्त होती है। कुछ की ओर मै पहले ही विद्वानो का ध्यान आकृष्ट कर चुका हू। कुछ की ओर आज भी आपको उन्मुख करना चाहता हूँ। सबके दो-दो उदाहरण भी दू तो 'बाढै कथा पार नहिं लहहूँ।' इसलिये केवल कुछ की ओर इगित करना चाहता हूँ।

हिन्दी का साहित्य आरम्भ से ही लोकभाषा का साहित्य रहा है। इस बात का मेरी दृष्टि से बडा ही महत्त्वपूर्ण अर्थ है। सयोग से जो पुस्तके हमे प्राप्त हुई है उनसे हम समाज की किसी विशेष चिन्ताधारा का परिचय पा सकते हैं, पर उस विशेष चिन्ताधारा के विकास मे जिन पार्श्ववर्ती विचारो और आचारो ने प्रभाव डाला था, वे, बहुत सभव है, पुस्तक रूप मे कभी लिपिबद्ध हुए ही न हो और यदि लिपिबद्ध हुए भी हो तो सभवत प्राप्त न हो सके हो। कबीरदास का बीजक दीर्घकाल तक बुन्देलखड से झारखड और वहाँ से बिहार होते हुए धनौती मठ मे पडा रहा और बहुत बाद मे प्रकाशित किया गया। उसकी रमैनियो से एक ऐसी धर्म-साधना का अनुमान होता है जिसके प्रधान उपास्य निरजन या धर्मराज थे। उत्तरी उडीसा और झारखड मे प्राप्त पुस्तको तथा स्थानीय जातियो की आचार-परम्परा के अध्ययन मे यह अनुमान पुष्ट होता है। पश्चिमी बगाल और पूर्वी बिहार मे धर्म ठाकुर की परम्परा अब भी जारी है। इस जीवित सम्प्रदाय तथा उडीसा के अर्द्ध-विस्मृत सम्प्रदायो के अध्ययन से बीजक के द्वारा अनुमानित धर्म-साधना का समर्थन होता है। इस प्रकार कबीरदास का बीजक इस समय यद्यपि अपने पुराने विशुद्ध रूप मे प्राप्त नही है, उसमे बाद के अनेक पद प्रक्षिप्त हुए है, तथापि वह एक जन समुदाय की विचार-परम्परा के अध्ययन मे सहायक है। कबीर का बीजक केवल अपना ही परिचय देकर समाप्त

नही होता। वह उससे अधिक है। वह अपने इर्द गिर्द के मनुष्यो का इतिहास बताता है।

भारतीय समाज ठीक वैसा ही हमेशा नही रहा है, जैसा आज है। नये नये जन समूह इस विशाल देश मे बराबर आते रहे है और अपने-अपने विचारो और आचारो का प्रभाव छोडते रहे है। आज की समाज व्यवस्था कोई सनातन व्यवस्था नही है। आज जो जातिया समाज के निचले स्तर मे पडी हुई है, वे सदा वही रही है, ऐसा मानने का कोई कारण नही है। इसी प्रकार समाज के ऊपरी स्तर मे रहने वाली जातिया भी नाना परिस्थितियो को पार करती हुई वहाँ पहुची है। इस विराट जन समुद्र का सामाजिक जीवन काफी स्थितिशील रहा है। फिर भी ऐसी धाराओ का नितान्त अभाव भी नही रहा है, जिन्होने समाज को ऊपर से नीचे तक आलोडित कर दिया है। ऐसा भी एक जमाना था, जब इस देश का एक बहुत बडा जन-समाज ब्राह्मण धर्म को नही मानता था। उसकी अपनी अलग पौराणिक परम्परा थी, अपनी समाज व्यवस्था थी, अपनी लोक-परलोक की भावना थी। मुसलमानो के आने के पहले ये जातिया हिन्दू नही कही जाती थी। किसी विराट सामाजिक दबाव के फलस्वरूप एक बार समूचे जन-समाज को दो बडे बडे कैंपो मे विभक्त हो जाना पडा—हिन्दू और मुसलमान। गोरखनाथ के बारह सम्प्रदायो मे उनसे पूर्वकाल के अनेक बौद्ध, जैन, शैव, और शाक्त सम्प्रदाय सगठित हुए थे। उनमे कुछ ऐसे सम्प्रदाय जो केन्द्र से अत्यन्त दूर पड गए थे, मुसलमान हो गए, कुछ हिन्दू। हिन्दी-साहित्य की पुस्तको से ही उस परम शक्तिशाली सामाजिक दबाव का अनुमान होता है। इतिहास मे इसका कोई और प्रमाण नही है, परन्तु परिणाम देखकर नि स्सदेह इस नतीजे पर पहुँचना पडता है कि मुसलमानो के आगमन के समय इस देश मे प्रत्येक जन समूह को किसी न किसी बडे कैम्प मे शरण लेनी पडी थी। उत्तरी पजाब से लेकर बगाल की ढाका कमिश्नरी तक के अर्द्ध-चन्द्राकृति भू-भाग मे बसी हुई जुलाहा जाति को देखकर रिजली ने (पीपुल्स आव इडिया, पृष्ठ १२६) अनुमान किया था कि इन्होने कभी सामूहिक रूप मे मुसलमानी धर्म स्वीकार किया था। हाल की खोजो से इस मत की पुष्टि हुई है। ये लोग न हिन्दू, न मुसलमान, योगी सम्प्रदाय के शिष्य थे।

एक उदाहरण दू। बीजक मे 'रमैया राम' शब्द आता है। साम्प्रदायिक परम्परा के अनुसार 'रमैया राम' धोखा ब्रह्म या भरमाने वाले निरजन का बोधक है। पहले मैं 'रमैया' शब्द की ध्वनि को ही इस विश्वास का कारण समझता था। परन्तु इधर मेरे मन मे एक और बात उठी है। बँगला मे प्राप्त

शून्य पुराण, धर्म-मगल आदि पुस्तको के रचयिता 'रमाई पडित' बताए जाते हैं। ओराव लोगो मे भी रमई पडित बडी पूज्य बुद्धि से स्मरण किए जाते हैं। क्या यही रमई पडित भरमाने वाले 'रमैया राम' तो नही हो गए ! कम से कम इतना तो स्पष्ट है कि कबीर-पथियो को रमई पडित के अनुयायियो से निबटना पडा था। यदि इस शब्द के साथ रमाई पडित का सम्बन्ध स्थापित किया जा सके, तो एक बहुत बडी विस्मृत कडी अनायास मिल जाएगी। और पूर्वी भाषाओ के साहित्य के पुनर्मूल्याकन का एक बहुत बडा साधन हाथ लगेगा।

साहित्य का इतिहास पुस्तको, उनके लेखको और कवियो के उद्भव और विकास की कहानी नही है। वह वस्तुत अनादि काल-प्रवाह मे निरन्तर प्रवहमान जीवित मानव समाज की ही विकास कथा है। ग्रन्थ और ग्रन्थकार, कवि और काव्य, सप्रदाय और उनके आचाय उस परम शक्तिशाली प्राणधारा की ओर सिफ इशारा भर करते हैं। वे ही मुरय नही हैं, मुरय है मनुष्य। जो प्राणधारा नाना अनुकूल-प्रतिकूल अवस्थाओ से बहती हुई हमारे भीतर प्रभावित हो रही है उसको समझने के लिये ही हम साहित्य का इतिहास पढते है।

सातवी-आठवी शताब्दी के बाद से लेकर तेरहवी-चौदहवी का लोक-भाषा का जो साहित्य बनता रहा, वह अधिकाश उपेक्षित है। बहुत काल तक लोगो का ध्यान इधर गया ही नही था। केवल लोक-साहित्य ही क्यो, वह विशाल शास्त्रीय साहित्य भी उपेक्षित ही रहा है जो उस युग की समस्त साहित्यिक और सास्कृतिक चेतना का उत्स था। कश्मीर के शैव साहित्य, वैष्णव साहित्य, वैष्णव सहिताओ का विपुल साहित्य, पाशुपत शैवो का इतस्ततो विक्षिप्त साहित्य, परवर्ती माने जाने वाले उपनिषदो का विस्तृत साहित्य, तत्र-ग्रथ, जैन और बौद्ध अपभ्रश-ग्रथ, अभी केवल शुरू किए गए हैं। श्रेडर ने जमकर परिश्रम न किया होता, तो सहिताओ का वह विपुल साहित्य विद्वन्मडली के सम्मुख उपस्थित ही नही होता, जिसने बाद मे सारे भारतवर्ष के साहित्य को प्रभावित किया है। मेरा अनुमान है कि हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने के पहले निम्नलिखित साहित्यो की जॉच कर लेना बडा उपयोगी होगा। इनकी अच्छी जानकारी के बिना हम न तो भक्ति काल के साहित्य को समझ सकते हैं और न वीरगाथा या रीतिकाल को

१ परवर्ती उपनिषदो का साहित्य।

२ जैन और बौद्ध अपभ्रश का साहित्य।

३ कश्मीर के शैवो और दक्षिण तथा पूर्व के तान्त्रिको का साहित्य।

४ उत्तर और उत्तर-पश्चिम के नाथो का साहित्य।

५ वैष्णव आगम ।

६ पुराण ।

७ निबन्ध ग्रन्थ ।

८ पूव के प्रच्छन्न बौद्ध वैष्णवो का साहित्य ।

९ विविध लौकिक कथाओ का साहित्य ।

जैन अपभ्र श का विपुल साहित्य अभी तक प्रकाशित नही हुआ है । जितना भी यह साहित्य पकाशित हुआ है, उतना हिन्दी के इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूण है । जोइन्दु (योगीन्द्र) और रामसिह के दोहो के पाठक स्वीकार करेगे कि क्या बौद्ध, क्या जैन और क्या शैव (नाथ) सभी सप्रदायो मे एक रूढि विरोधी और अन्तर्मुखी साधना का ताना-बाना दसवी शताब्दी के बहुत पहले बँध चुका था । बौद्ध अपभ्रश के ग्रन्थ भी इसी बात को सिद्ध करते है । योग प्रवणता, अन्तमु खी साधना और परम प्राप्तव्य का शरीर के भीतर ही पाया जा सकना इत्यादि बाते उस देशव्यापी साधना का केन्द्र थी । यही बाते आगे चलकर विविध निर्गु ण सप्रदायो मे अन्य भाव से स्थान पा गईं । निर्गु ण-साहित्य तक ही यह साहित्य हमारी सहायता नही करेगा, काव्य के रूपो के विकास और तत्कालीन लोक-चिन्ता का भी उससे परिचय मिलेगा । राहुल जी जैसे विद्वान तो स्वयभू की रामायण को हिन्दी का सबसे श्रेष्ठ काव्य मानते है । यद्यपि वह अपभ्र श का ही काव्य है, परन्तु महापुराण आदि ग्रन्थो को जिसने नही पढा, वह सचमुच ही एक महान् रस-स्रोत से वचित रह गया । रीतिकाल के अध्ययन मे भी यह साहित्य सहायक सिद्ध होगा ।

कश्मीर का शैव साहित्य अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दी-साहित्य को प्रभावित करता है । यद्यपि श्री जगदीश बनर्जी और मुकुन्दराम शास्त्री आदि विद्वानो के प्रयत्न से वह प्रकाश मे आया है फिर भी उसकी ओर विद्वानो का जितना ध्यान जाना चाहिए, उतना नही गया है । हिन्दी मे प० बलदेव उपाध्याय ने इसके और तत्रो के तत्त्ववाद का सक्षिप्त रूप मे 'परिचय कराया है, पर इस विषय पर और भी पुस्तके प्रकाशित होनी चाहिए । यह आश्चर्य की बात है कि उत्तर का अद्वैत मत दक्षिण के परशुराम कल्प सूत्र के सिद्धान्तो से अत्यधिक मिलता है । साधना की अन्त प्रवाहित भावधारा ने देश और काल के व्यवधान को नही माना ।

हिन्दी मे गोरख-पथी साहित्य बहुत थोडा मिलता है । मध्य-युग मे मत्स्येन्द्र नाथ एक ऐसे युग-सधि काल के आचाय है कि अनेक सम्प्रदाय उन्हे अपना सिद्ध

आचार्य मानते हैं। हिन्दी की पुस्तको में इनका नाम 'मछन्दर' आता है। परवर्ती सस्कृत ग्रन्थों मे इसका 'शुद्धीकृत' सस्कृत रूप ही मिलता है। वह रूप है 'मत्स्येन्द्र'। परन्तु साधारण योगी मत्स्येन्द्र सुधारक योगियो की इन 'अशिक्षितो' की यह प्रवृत्ति अच्छी नही लगी (योगिसम्प्रदायाविष्कृति पृष्ठ ४४८—४९)। परन्तु हाल की शोधो से ऐसा लगता है कि 'मछन्दर' नाम काफी पुराना है और शायद यही सही नाम है। मत्स्येन्द्र (मच्छन्द्र) की लिखी हुई कई पुस्तके नेपाल दरबार लाइब्रेरी मे सुरक्षित हैं। इनमे से एक का नाम 'कौल ज्ञान निर्णय' है। इसकी लिपि को देखकर स्व० महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने अनुमान किया था कि यह पुस्तक सन् ई० नवी शताब्दी की लिखी हुई है (नेपाल सूचीपत्र द्वि० भाग, पृ० १९)। हाल ही मे डा० प्रबोधचन्द्र बागची महोदय ने उस पुस्तक को मत्स्येन्द्र नाथ की अन्य पुस्तको (अकुल वीर तन्त्र, कुलानन्द और ज्ञान कारिका) के साथ सम्पादित करके प्रकाशित किया है। इस पुस्तक की पुष्पिका मे मच्छदन, मच्छन्द आदि नाम भी आते है। परन्तु लक्ष्य करने की बात यह है कि शैव दार्शनिको मे श्रेष्ठ आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने भी 'मच्छन्द' नाम का ही प्रयोग किया है और रूपात्मक अर्थ समझाकर उसकी व्याख्या भी की है। उनके मत से वे आतान-वितान कृत्यात्मक जाल को बताने के कारण मच्छन्द कहलाए। (तन्त्रालोक पृष्ठ २५), और तन्त्रालोक के टीकाकार जयद्रथ ने भी इसी से मिलता-जुलता एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसके अनुसार मच्छ चपल चित्त वृत्तियो को कहते हैं। उन चपल वृत्तियो का छेदन किया था इसीलिये वे मच्छन्द कहलाये। कबीरदास के सम्प्रदाय मे आज भी मत्स्य, मच्छ आदि का साकेतिक अर्थ 'मन' समझा जाता है (देखिये कबीर बीजक पर विचारदास की टीका, पृष्ठ ४०)। यह परम्परा अभिनवगुप्त तक जाती है। उसके पहले भी नही रही होगी, ऐसा कहने का कोई कारण नही है। अधिकतर प्राचीन बौद्धो के पदो से इस प्रकार के प्रमाण सग्रह किए जा सकते है कि प्रज्ञा ही मत्स्य है (जनल आव रायल एशियाटिक सोसाइटी आव बगाल, जिल्द २६, १९३० ई० न० १ टुची का प्रबन्ध)। इस प्रकार यह आसानी से अनुमान किया जा सकता है कि मत्स्येन्द्र नाथ की जीवितावस्था मे रूपक के अर्थ मे उन्हे मच्छन्द कहा जाना नितान्त असगत नही है। इन छोटी छोटी बातो से पता चलता है कि उन दिनो की ये धार्मिक साधनाएँ कितनी अन्त-सम्बद्ध है।

यह अत्यन्त खेद का विषय है कि भक्ति-साहित्य का अध्ययन अब भी बहुत उथला ही हुआ है। सगुण और निर्गुण धारा के अध्ययन से ही मध्ययुग के मनुष्य

को अच्छी तरह समझा जा सकता है। भगवत्प्रेम मध्ययुग की सबसे जीवन्त प्रेरणा रही है। यह भगवत् प्रेम इद्रिय ग्राह्य विषय नही है और मन और बुद्धि के भी अतीत समझा गया है। इसका आस्वादन केवल आचरण द्वारा ही हो सकता है। तक वहाँ तक नही पहुँच सकता, परन्तु फिर भी इस तत्त्व को अनुमान के द्वारा समझने समझाने का प्रयत्न किया गया है और उन आचरणो की तो विस्तृत सूची बनाई गई है जिनके व्यवहार से इस अपूव भागवत रस का आस्वादन हो सकता है। आगमो मे से बहुत कम प्रकाशित हुए है। भागवत् के व्यारयापरक सग्रह ग्रन्थ भी कम ही छपे है। तुलसीदास के 'रामचरितमानस' को आश्रय करके भक्ति-शास्त्र का जो विपुल साहित्य बना है, उसकी बहुत कम चर्चा हुई है। इन सबकी चर्चा हुए बिना और इनको जाने बिना मध्ययुग के मनुष्य को ठीक-ठाक नही समझा जा सकता।

तान्त्रिक आचारो के बारे मे हिन्दी साहित्य के इतिहास की पुस्तकें एकदम मौन है, परन्तु नाथ-मार्ग का विद्यार्थी आसानी से उस विषय के साहित्य और आचारो की बहुलता लक्ष्य कर सकता है। बहुत कम लोग जानते हैं कि कबीर द्वारा प्रभावित अनेक निर्गुण सम्प्रदायो मे अब भी वे साधनाएँ जी रही है जो पुराने तान्त्रिको के पचामृत, पचपवित्र और चतुश्चन्द्र की साधनाओ के अवशेष है। यहाँ प्रसग नही है इसीलिये इस बात को विस्तार से नही लिखा गया, परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि हमारे इस साहित्य के माध्यम से मनुष्य को पढने के अनेक मार्गों पर अभी चलना बाकी है।

कबीरदास के बीजक मे एक स्थान पर लिखा है 'ब्राह्मन, वैस्नव एक हि जाना' (१२ वी ध्वनि)। इससे ध्वनि निकलती है कि ब्राह्मण और वैष्णव परस्पर विरोधी मत है। मुझे पहले-पहल यह कुछ अजीब बात मालूम हुई। ज्यो-ज्यो मैं बीजक का अध्ययन करता गया, मेरा विश्वास दृढ होता गया कि बीजक के कुछ अश पूर्वी और दक्षिणी बिहार के धम मत से प्रभावित है। मेरा अनुमान था कि कोई ऐसा प्रच्छन्न बौद्ध वैष्णव सप्रदाय उन दिनो उस प्रदेश मे अवश्य रहा होगा जिसे ब्राह्मण लोग सम्मान की दृष्टि से नही देखते होगे। श्री नगेन्द्र नाथ बसु ने उडीसा के पाँच वष्णव कवियो की रचनाओ के अध्ययन से यह निष्कष निकाला है कि ये वैष्णव कवि वस्तुत माध्यमिक मत के बौद्ध थे और केवल ब्राह्मण-प्रधान राज्य के भय से अपने को वैष्णव कहते रहे। यहाँ प्रसग केवल यह है कि हिन्दी साहित्य के ग्रन्थो का अध्ययन अनेक लुप्त और सुप्त मानव चिन्ता प्रवाहो का परिचय दे सकता है। केवल पुस्तको की तिथि-तारीख तक ही साहित्य का इतिहास सीमाबद्ध नही किया जा सकता। मनुष्य-

समाज बडी जटिल वस्तु है। साहित्य का अध्ययन उसकी अनेक गुत्थियो को सुलझा सकता है।

परन्तु इन सबसे अधिक आवश्यक है विभिन्न जातियो, सम्प्रदायो और साधारण जनता मे प्रचलित दत कथाएँ। इनसे हम इतिहास के अनेक भूले हुए घटना-प्रसगो का ही परिचय नही पायेगे, मध्य-युग के साहित्य को समझने का साधन भी पा जाएगे। झारखड, उडीसा तथा पूर्वी मध्य प्रान्त की अनेक प्रचलित दन्त-कथाएँ उन अनेक गुत्थियो को सुलझा सकती हैं, जो कबीर पथ की बहुत दुरूह और गूढ बाते समझी जाती है। इस ओर बहुत अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। विभिन्न आँकडो और नृतत्व-शास्त्रीय पुस्तको मे इतस्तत विक्षिप्त बातो का सग्रह भी बहुत अच्छा नही हुआ है। ये सभी बाते हमारे साहित्य को समझने मे सहायक है। इनके बिना हमारा साहित्यिक ज्ञान अधूरा ही रहेगा।

विक्रम के प्रथम सहस्राब्द के बाद की धम साधना का जो रूप हमारे साहित्य मे उपलब्ध है उसका अध्ययन बहुत सहज नही है। प्रथम सहस्राब्द मे समूचा उत्तर भारत सुदूर कामरूप तक अधिकाश मे आय भाषा-भाषी हो चुका था। हमारे पास जो लिखित साहित्य विद्यमान है वह आय भाषा का साहित्य है। आर्यों के इस देश मे आने के पहले जो अनेक आर्येतर मानव मडलियाँ (एथ्निक ग्रप्स) इस देश मे बसी हुई थी, उनकी भाषा भी भिन्न थी और धार्मिक विश्वास भी आर्यों के विश्वास से भिन्न थे। इसमे सदेह नही कि आर्यों की भाषा, धर्म-साधना और रीति नीति को इन पूववर्ती जातियो ने प्रभावित किया था और आर्यो की भाषा और साहित्य मे इन जातियो की कुछ न कुछ बातें आज भी बची रह गई है, पर आज यह बता सकना बडा कठिन है कि इसमे कौन-सा आर्येतर विश्वास किस आय-पूव जाति की देन है। ये जातियाँ बराबर तुच्छ समझी गई और गर्वीली आय जाति ने इनसे कुछ लिया भी है तो इस प्रकार अपना लेने का प्रयत्न किया है कि उनके पहचानने का काम बहुत आसान नही रह गया है। भाषा के भीतर से कभी-कभी ऐसे निश्चित प्रमाण मिल जाते हैं जिससे किसी शब्द के किसी आर्येतर विश्वास का निदशक होने का प्रमाण मिल जाता है। अभी तक ये बाते अधिकाश मे अनुमान और ऊहा का विषय रही है। पर ज्यो ज्यो सस्कृत के पुराणो, तत्रो, पाचाराम सहिताओ और देशी भाषा के साहित्य का अध्ययन होता जा रहा है, इन आय पूर्व विश्वासो के अध्ययन मे भी व्यवस्था आती जा रही है। वैसे तो, विक्रम के प्रथम सहस्राब्दक मे भी और उसके पूव भी, इस प्रकार के आदान के प्रमाण मिल जाते रहे हैं पर उन

दिनो अधिकाश आर्येतर जातियो के आय भाषा-भाषी न होने के कारण हम इस विषय मे कुछ भी नही जान पाते कि उनके धर्माचार्यों और सतो के विचार कैसे थे और जीवन को उन्होने किस दृष्टि मे देखा था।

विक्रम के प्रथम सहस्राब्दक मे धीरे-धीरे आर्येतर मानव-मडलियाँ भी आय भाषा-भाषी होने लगी, और इस सहस्राब्दक के अन्त तक काम-रूप तक समूचा उत्तरी भारत आय भाषा भाषी हो गया। कुछ थोडी-सी आस्ट्रोएशियाई श्रेणी की जातियाँ (मुडा, सथाल, खासी) आदि अब भी अपनी-अपनी भाषाएँ बचाए हुए है पर इस स्वभाषा-रक्षण के लिए उन्हे जगलो और पहाडो की दुगम भूमि की शरण जाना पडा हे।

ज्यो ज्यो समय बीतता गया, त्यो-त्यो आर्येतर जातियाँ भी आय-भाषाओ के लोक-प्रचलित रूप मे अपनी बाते कहने लगी। यद्यपि इसका भी अधिकाश लुप्त हो गया है पर वज्रयानी, सहजयानी और नाथ-सिद्धो मे ऐसी अनेक जातियो के विचारक नेताओ की बात लोक-भाषा के माध्यम से सुनने को मिल जाती है जो इसके पहले उपेक्षित रही है। इनमे कोरी है, ताँती है, गडरिए है, मछुए है, तमोली है और ऐसी ही और भी अनेक मानव-मडलियाँ है। विक्रम की आठवी शती के आसपास से इनकी वाणी हमे सुनाई देने लगती है। इसी समय सस्कृत मे एक ऐसा साहित्य पाया जाता है जिसमे वेद-विरोधी और ब्राह्मण-विरोधी स्वर काफी प्रबल होकर सुनाई देता है। इन दिनो जहाँ एक ओर वेद को अविसवादी प्रमाण मानने की प्रवृत्ति तीव्र से तीव्रतर होती जा रही थी, यहाँ तक कि अपने विरोधी को अवैदिक कह देना उसे नीचा दिखाने के लिये पर्याप्त माना जाने लगा था, वही दूसरी ओर कापालिको तथा तान्त्रिको और पाशुपतो के अनेक मत खुल्लमखुल्ला वेद और ब्राह्मण की अप्रामाणिकता घोषित करते थे। प्रतिक्रिया की मात्रा इतनी तीव्र थी कि ये लोग मामूली बात को भी ऐसी भडका देने वाली और धक्कामार भाषा मे कहते थे जो सुनने वाले को हठात् वेद-विरोधी सुनाई दे, यद्यपि सब समय उसका पारमार्थिक अथ वेद-विरोधी ही नही हुआ करता था। इसके लिये नये पारिभाषिक शब्द रचे गए, सावृतिक और पारमार्थिक परिभाषाओ का जाल तैयार किया जाने लगा। एक उदाहरण काफी होगा। साधक को कहना है कि जिह्वा को तालु मे उलटकर ब्रह्मरध्र की ओर ले जाना चाहिए और तालु देश-स्थित चन्द्र से नित्य झरते रहने वाले अमृत को पीना चाहिए। ऐसा करने वाला साधक जरा-मृत्यु को जीत लेता है और जो ऐसा नही कर सकता वह अपनी गुरु-परम्परा को क्षति पहुँचाता है। इस बात को इस प्रकार धक्कामार ढग से कहने

की प्रथा चल पडी थी—नित्य गोमास का भक्षण करना चाहिए और अमर मदिरा का पान करना चाहिए। जो ऐसा करता है वही कुलीन है, बाकी योगी तो कुल-घातक है।

गोमास भक्षयेन्नित्य पिवेदमर वारुणीम्।
कुलीन तमह मन्ये इतरे कुलघातका।

—हठयोग प्रदीपिका, पृष्ठ ३, ४६

जहाँ से यह श्लोक लिया गया है, वही इसकी व्याख्या भी दी हुई है, पर यह सौभाग्य कम स्थलो पर मिलता है। अधिकाश मे आपको इस चक्कामार भाषा से शुरू शुरू मे लडखडा जाना पडेगा।

सस्कृत के पुराणो मे भी ऐसे अनेक आचार्यों और देवताओ आदि के नाम और कथाएँ पाई जाती हैं जो अभून पूर्व हैं। ऐसा जान पटता है कि अधिक विकसित बुद्धि वाली जातियाँ सस्कृत के माध्यम से अपने आपको व्यक्त करने लगी थी। परन्तु इसमे भी कोई सदेह नही कि बहुत थोडी जातियाँ ऐसी थीं जो इतनी योग्य हो सकी होगी। अधिकाश जातिया तो अक्षर ज्ञान से भी अनभिज्ञ रही होगी। उन्हे अपने मनोभावो को प्रकट करने का मौका केवल लोक-भाषा के द्वारा ही मिल सकता था। परन्तु जब तक ये जातियाँ आधुनिक आर्य-भाषाओ के प्राचीनतम रूप मे कहने योग्य स्थिति मे पहुँची तब तक इन पर आर्य रग बहुत अधिक चढ चुका था। यही काल हमारे अध्ययन का विषय है। सस्कृत मे इस काल का जो कुछ साहित्य उपलब्ध है वह आशिक रूप मे ही हमारी सहायता कर सकता है। उसके अध्ययन का सबसे बडा साधन है देशी भाषाओ का विशाल साहित्य। जिसके केवल सकीर्ण अशो की जानकारी ही हमे प्राप्त हो सकी है। न तो इस विशाल साहित्य को अविच्छिन्न और परिपूर्ण रूप मे अध्ययन करने का कोई प्रयत्न ही हुआ है और न विच्छिन्न और अपरि-पूर्ण रूप मे जो प्रयत्न हुए हैं, उन्हे ही किसी एक केन्द्रीय भाषा के माध्यम से उपलब्ध करने का कोई प्रयास हुआ है। इधर देशी भाषाओ के साहित्य की कुछ खोज खबर लेने का प्रयत्न भी हुआ है तो अत्यन्त आधुनिक काल मे सीमित रखकर। यहाँ मैं अत्यन्त क्षोभ के साथ आपसे निवेदन करना चाहता हूँ कि हमारी सस्कृति के पूर्ण अध्ययन के माग मे यह कठिनाई बहुत बाधक है।

जब कभी मैं हिन्दी के भक्ति-साहित्य के विषय मे लिखने या बोलने का सकल्प करता हूँ तभी मेरे मन मे अनेक प्रश्न ऐसे उठते हैं जो साधारणत साहित्य के अध्ययन के अन्तर्गत नही माने जाते। परन्तु मेरे निकट उन छोटी से छोटी बातो का भी बडा मूल्य होता है जो मनुष्य को समझने मे थोडी-सी

सहायता करती हो । जब मनुष्य की भाषा मे, धर्म मे, रीति-रस्म मे ऐसा कोई छोटे से छोटे शब्द भी मिल जाता है जो मनुष्य के निरन्तर ग्रहणशील और उदार रूप का परिचय दे जाता है तो मेरा चित्त उल्लसित हो उठता है और मुझे यह कहने मे थोडी भी झिझक नही कि हमारी हिन्दी के भक्तिकालीन साहित्य मे ऐसे एक नही, अनेक शब्द है । कभी कभी वे एक ही झटके मे मुझे अतीत के मनुष्य के आमने सामने खडा कर देते हैं और कभी मेरी अल्पज्ञता को ऐसे नग्न रूप मे प्रकट कर देते है कि मैं बहुत जल्दी समझ जाता हूँ कि दुनिया काफी बडी है और मेरे मित्रो, मनुष्य इतना ही समझ जाय तो क्या कम है ? मुझे यह बताने मे एक रोमाचकारी उल्लास अनुभव होता है कि हिन्दी साहित्य का विद्यार्थी ऐसे अनेक शब्दो और अर्थो से बराबर टकराता है जो उसे अनुभव करा देते है कि जाति-पाति के बधनो के होते हुए भी मनुष्य सवत्र मनुष्य ही है, वह न लेने मे सकोच करता है न देने मे, वह जम के प्रभावित करता है और जम के प्रभावित होता है । हमारे साहित्य के बाहर पडे हुए ग्राम्य देवता, अपरिचित रीति नीति, उपेक्षित पूजा-पाषण, हमे मनुष्य को इस अनावृत निर्विशिष्ट रूप मे दिखाने मे अद्भुत सहायता पहुँचाते है । सवरू और लोरिक, जटहवा बाबा और लोटा भैरव, त्रिलोकी नाथ और बजरेसरी माता हमे अनेक तथ्यो से परिचित करा सकती है, अतीत और वतमान के मनुष्य को उसके जाति-धम निर्विशिष्ट रूप मे प्रत्यक्ष करा सकती है ।

अब आपको यह बात काफी कुतूहलजनक जँचेगी कि धम शब्द के मूल रूपो मे से एक ऐसा भी है जो कछुए का वाचक है । सस्कृत मे धम शब्द काफी पुराना है और उसके अथ भी अनेक तरह के है । उन्हे आप अच्छी तरह जानते हैं । हाल ही मे डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने, 'वी० सी० ला वाल्यूम' भाग १ मे दिखाया है कि 'धम शब्द' का इन कथाओ मे जिस प्रकार प्रयोग हुआ उसका मूल रूप आस्ट्रो एशियाई भाषाओ से लिया गया होगा । इस श्रेणी की सभी भाषाओ मे 'दुर' 'दर' 'दुल' जैसे शब्द कछुए के वाचक है, बौद्ध सिद्धो के गान मे भी 'दुली' शब्द का प्रयोग कछुए के अथ मे हुआ है और अशोक के शिला-लेखो मे भी । सस्कृत के कोशो मे भी इस शब्द को स्थान मिल चुका है । डा० चटर्जी ने दिखाया है कि कोल भाषाओ मे 'ओम्' जैसा एक स्वाथक प्रत्यय होता है । 'दुलोम' 'दरोम' या 'दुरोम' भी कछुए के ही वाचक होगे । इसी शब्द का सस्कृत रूप धर्म है जो पुराने धर्म के साथ मिलाकर एक कर लिया गया है । सुना है पुरुलिया जिले के कुछ निम्नतर श्रेणी के लोगो ने ईसाई धर्म ग्रहण किया है । वे अपने को रोमाई कार्तिक के अनुयायी कहते है । कार्तिक या कार्ति-

केय बगाल मे दुर्गापूजा के अवसर पर पूजे जाते हैं। कैथोलिक शब्द के सस्कृतायित रूप 'कार्तिक' के साथ साथ उनको स्मरण कर लिया गया है। रोमन कैथोलिक 'रोमाई कार्तिक हो गया। यह धम भी कुछ ऐसा ही होगा। सो यदि भाषा-विज्ञानी की बात ठीक है तो हम इस नतीजे पर आसानी से पहुँच सकते हैं कि धम पूजा विधान कोल जातियो के धार्मिक विश्वासो का बौद्ध प्रभावित आर्य-भाषापन्न रूप होगा। मध्य एशिया मे सरबुजा पीर को देखकर श्री वज्र (बुद्ध) की उपासना का मूल उत्स मालूम हो जाता है, सेट जान की लिखी ग्रीक कथा के ढाचे और 'इओ आसफ' (युदासाफ बुदासफ वोधिसत्व[1]) नाम देकर इसके मूल रूप का आभास मिल जाता है, उसी प्रकार इस 'धम' शब्द की भाषा शास्त्रीय जानकारी से भी हमे पुराने विस्मृत काल का एक हल्का आभास मिल जाता है। शुरू शुरू मे म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने उसे बौद्ध-धम का भग्नावशेष समझा था। उनका समझना ठीक भी था, क्योकि सचमुच ही इसमे बौद्ध प्रभाव है भी, परन्तु शास्त्री जी को पता नही था, कि उन्हे इस धम-मत का केवल एक ही अध्याय मालूम है, उसका दूसरा और अधिक महत्वपूर्ण अध्याय कबीर-पथी साहित्य मे है। वहा इसपर वैष्णव रग चढ गया है। जब तक हिन्दी के इस उपेक्षित साहित्य का अच्छा अध्ययन नही किया जाएगा, तब तक इस विशाल धम-मत का अध्ययन अधूरा ही रह जाएगा। मैं विशाल शब्द का प्रयोग खूब सोच समझकर कर रहा हूँ। हमारी सस्कृति मे धम विश्वास की बहुत बडी देन का प्रमाण खोजना कठिन नही है। केवल इतना ध्यान मे रखने की बात है कि हमारा मध्ययुगीन साहित्य हिन्दी, बँगला, उडिया आदि की सकीर्ण सीमाओ मे बाँटकर नही देखा जा सकता। वह भारतीय सस्कृति की भाति ही एक और अविभाज्य है। जो लोग आज प्रादेशिक सकीर्णता से आशकित है वे इस सास्कृतिक एकता की ओर जन-चित्त को जागरूक करके अच्छा फल पाने की आशा कर सकते है।

अभी शून्य पुराण की जिस कहानी की चर्चा हुई है, उसमे धम और कम के अतिरिक्त निरजन देवता के दो सहायको का नाम आता है। एक है हस दूसरे है उलूक। 'हस' का कबीरपथी साहित्य मे अथ है निरजन के जाल से मुक्त शुद्ध जीव। क्यो और कैसे यह अथ बदला इसकी कथा यद्यपि बहुत मनोरजक है तो भी मैं इस ओर आपका ध्यान नही बटाऊँगा। कूम का स्थान तो हिन्दू-धर्म मे भी काफी ऊँचा है। उन्हे विष्णु के दस अवतारो मे गिना गया है। भू-भार को धारण करने वाले कोल कमठ भी हिन्दुओ मे आदर के पात्र है। मैं

१ दे० विश्वभारती पत्रिका ख० ४, अ० ४ में डा० पुरुषोत्तम विश्वनाथ बापट का लेख।

ठीक नही कह सकता कि इन विश्वासो का सम्बन्ध उस जाति-धर्म विश्वासो से सबद्ध है या नही जिसकी चर्चा अभी की जा चुकी है। शायद हो, शायद न हो। यह अवश्य स्मरणीय है कि किसी समय 'हस' को भी विष्णु के दस अवतारो मे माना जाता था। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान मे प्रथम अवतार है हस और दूसरे कूम—

हस कूमश्च मत्स्यश्च प्रादुर्भावो द्विजोत्तम।
वाराहो नारसिहश्च वामनो राम एव च।
रामो दाशरथिश्चैव सात्वत कालिकरेव च।।

शान्ति पव ३३९ ३०

इन अवतारो मे बुद्ध का नाम नही है। दो व्याख्याएँ सभव है। या तो हस को अवतार मानने का विश्वास बुद्ध से भी पूव का है, या फिर बुद्धोत्तर कठोर ब्राह्मण-प्रतिक्रिया के काल से सबद्ध है। मुझे हस की महिमा का विश्वास काफी पुराना जान पडता है।

कूम और हस की चर्चा तो हमे अन्यत्र काफी मिल जाती है पर ये उलूक मुनि कौन है ? शून्य पुराग वाली कहानी का झुकाव विष्णु से अधिक शिव की ओर है, इतना तो स्पष्ट है। कबीर पथ का झुकाव विष्णु की ओर अधिक है। महादेव दास इत्यादि उडिया भक्त भी वैष्णव है। सबने उलूक मुनि की उपेक्षा की है। यह ऐसा क्यो हुआ ?

उलूक मुनि भी भारतीय साहित्य मे नितान्त अपरिचित नही कहे जा सकते, यद्यपि उनको पहचानने की कोशिश बहुत कम की गई है। महाभारत (सभापर्व २७ ५) मे लिखा है कि जब अर्जुन उत्तर देश को जय करने गए तो उलूक नाम की एक जाति से उनकी मुठभेड हुई थी। सभवत यह उल्लू 'टोटेम' वाली कोई मानव मडली (एथ्निक ग्रुप) रही हो। वैसे शकुनि के एक भाई का नाम भी उलूक था। शकुनि (गिद्ध) के भाई का नाम उलूक (उल्लू) होना बहुत बेतुका नही है, ऐसा हुआ ही करता है। पर अगर शकुनि मनुष्य थे तो उनके भाई भी मनुष्य ही रहे होगे। और उन दिनो जाति और देश के नाम से उनके अधिपतियो को पुकारने की प्रथा थी। कोशल का अर्थ कोशल देश का राजा या मुखिया भी हो सकता है और भद्र का अथ भद्र जाति या देश का सरदार भी। शकुनि और उलूक भी ऐसे ही नाम जान पडते हैं। शकुनि गाधार की ओर से आए थे, इसलिये मान लिया जा सकता है कि उलूक लोग भी कही उधर के ही रहे होगे। यह अनुमान एकदम बेबुनियाद नही कहा जाएगा। मैं तो निश्चित और प्रौढ प्रमाणो के आधार पर बात करने का पक्षपाती हूँ।

अनुमान के आधार पर तो एक मसखरे ने उच्चारण-साम्य का सहारा लेकर 'लडन' को 'नन्दन' वन ही साबित कर दिया था। अस्तु। यह हो सकता है कि उलूक जाति के श्रेष्ठ मनीषियो को सामूहिक रूप मे उलूक कहा जाता हो। परन्तु व्यक्ति के रूप मे भी उलूक मुनि बहुत पुराने काल से परिचित हैं। पाणिनि को इनका नाम निश्चित रूप से मालूम था क्योकि गर्गादिगण (४ १ १०५) मे उलूक का नाम आता है। सवदशन-सग्रह मे कणाद दशन को औलूक्य दर्शन कहा गया है। टीकाकार ने इस नाम के दो हेतु बताए है एक तो यह कि शायद कणाद उलूक ऋषि के वशज थे, दूसरा यह कि शिवजी ने ही उलूक का रूप धारण करके कणाद मुनि को छह पदार्थों का ज्ञान सुझाया था। कणाद का वैशेषिक दर्शन तो प्रसिद्ध ही है। सवदर्शन-सग्रह मे किसी प्राचीनतर ग्रन्थ का एक श्लोक उद्धृत किया गया है जिसमे कहा गया है कि जिस दिन मनुष्य आकाश को इस प्रकार ढक लेगा जिस प्रकार चमडे से कोई बतन ढक दिया जाता है उसी दिन मनुष्य शिव को जाने बिना भी दु ख का अन्त पा लेगा।

यदा चर्मवदाकाश छादयिष्यन्ति मानवा।
तदा शिवमविज्ञाय दु खस्यान्त भविष्यति॥

इस कथन का तात्पय केवल इतना ही है कि शिव को जाने बिना दु ख की निवृत्ति असभव है। इससे शिव के सम्बन्ध मे पाशुपत मतावलबियो की दृढ निष्ठा का अनुमान होता है। सस्कृत मे उलूक का एक पर्याय कौशिक भी है। एक मुनि का नाम भी कौशिक है। जब एक ही भाषा मे एक ही शब्द के दो या अधिक ऐसे अर्थ प्रचलित हो जिनका निकट का कोई सम्बन्ध न हो तो इस बात की सभावना हुआ करती है कि ये दो विभिन्न मूलो से आए होगे, या फिर दो कालो मे अलग-अलग परिस्थितियो मे व्यवहृत होने के कारण उनके अथ बदल गए होगे, या फिर यह भी सम्भव हो सकता है कि वे दो विभिन्न दृष्टिकोण के सप्रदायो मे व्यवहृत होने के कारण भिन्नाथक हो गए हैं। यही साधारण नियम है। अपवाद भी होते ही होगे।

इस प्रसग मे एक बात और स्मरणीय हे। बुद्ध के युग मे उनसे पूव के चले हुए छह मतो का उल्लेख मिलता है। ब्रह्मजाल सुत्त मे तो बासठ पथो का उल्लेख है, पर विद्वानो ने उसे परवर्ती और काल्पनिक बताया है। अन्य सुत्तो मे छह मतो का ही उल्लेख है। इनमे प्रथम सघ के आचार्य पूरण काश्यप, द्वितीय के मक्खलि गोसाल, तृतीय के अजित केस कवली, चतुथ के पकुध कात्यायन पचम के निगठ नाथ पुत्त, और छठे के आचाय सजय बेलट्ठ-पुत्र थे। चौथे सघ के

आचार्य का नाम 'पकुध' कुछ विचित्र सा है। ये मानते थे कि पदाथ सात है। (१) पृथ्वी, (२) अप (जल), (३) तेज, (४) वायु, (५) सुख, (६) दुख और (७) जीव। ये सातो पदाथ न किसी ने किए, न करवाए। ये वध्य कूटस्थ तथा स्तभ के समान अचल है। वे हिलते नही, बदलते नही, एक दूसरे को कष्ट नही देते तथा परस्पर को प्रमाणित नही करते। इनमे मरने वाला, मार खाने वाला, सुनने वाला, कहने वाला, जानने वाला, जनाने वाला, कोई नही है। जो तेज शस्त्रो से दूसरो का सिर काटता है वह कोई हत्या नही करता। तथ्य केवल इतना ही है कि उसका शस्त्र सात पदार्थों के अवकाश मे घुस जाता है, बस इतना ही। इस मत को अन्योन्यवाद कहते है। अनुमान किया जा सकता है कि वतमान वैशेषिक मत कुछ इसी प्रकार के मत का विकसित रूप हो सकता है। यदि वैशेषिक मत ही पाशुपत मत हो तो सहज ही यह प्रश्न उठता है कि 'पकुध और' लकुलि' मे कोई सम्बन्ध है कि नही। होना असभव नही है।

अब कौशिक शब्द का उल्लू अथ कैसे हो गया यह विचाय है। परम्परा भूल जाने पर विरोधी सम्प्रदायो के नाम का हास्यास्पद अथ करके लोक-चक्षु मे हीन कर देना नयी बात नही है, अपरिचित भी नही हे। बौद्धो का वैभाषिक सम्प्रदाय बडे समृद्ध दाशनिक मत का पोषक था। सवदशन सग्रह मे माधवाचाय ने इसका अथ 'उलट पलटा बोलने वाला' कर दिया है। यहाँ 'विभाषा' का अथ ऊटपटाग भाषा मान लिया गया है। परन्तु इसका मूल अथ था, विभाषा (विशिष्ट भाषा, विशिष्ट भाष्य) को मानने वाला सम्प्रदाय। चीनी भाषा मे आज भी 'पूटी विभाषा' पडी हुई है। इस टीका को लिखने के लिये सम्राट् कनिष्क के सरक्षण मे एक विद्वत्सभा का सघटन हुआ था। सुप्रसिद्ध दार्शनिक कवि अश्वघोष इस समिति के प्रमुख सदस्य थे। 'कुणप' शब्द का अथ बाद मे राक्षस मान लिया गया था पर हाल के अनुसधानो से मालूम हुआ है कि यह वस्तुत उस शब्द का सस्कृत रूपान्तर होगा, जिसका आधुनिक हिन्दी रूपान्तर 'गोड' है और इस देश के एक बहुत शक्तिशाली पुराने अधिवासी इस शब्द के वाच्य रहे होगे। उदाहरण और भी बढाया जा सकता है पर आवश्यकता नही है। इस कौशिक मुनि का इतिहास भी कुछ ऐसा ही जान पडता है। वस्तुत उलूक लोग लाकुलीश पाशुपत मतावलम्बी थे। लाकुलीश के शिष्य का नाम कुशिक था। इनके नाम पर ही समूचा उलूक सम्प्रदाय कौशिक कहलाता है। लाकुलीश के नाम पर इस सम्प्रदाय का नाम लाकुल पडा है। कालक्रम से कौशिक का वास्तविक अर्थ तो भुला दिया गया, पर यह परम्परा बची

रही कि कौशिक उल्लू को कहते हैं। भाडारकर ने अनेक प्रशस्तियो के अध्ययन के से देखा था कि सन् ६४३ से आरम्भ करके सन् १२८५ ई० की प्रशस्तियो मे शैव मात्र को लाकुलीश कहा गया है।[1] सन् १२८७ ई० का एक लेख सोमनाथ मे पाया गया है जिसमे लाकुलीश के साथ गोरखनाथ का भी नाम है।[2] इस चित्र प्रशस्ति के लेखक उलूकराज है। भाडारकर का कहना है कि शिव के एक अवतार का नाम उलूक था और इस प्रशस्ति के उलूकराज ऐसे ही कोई व्यक्ति होगे।

मैं चाहता हूँ कि इन लाकुलीश पाशुपतो के बारे मे आपको थोडा और उलझा रखूँ। लकुलीश, लाकुलीश, नकुलीश आदि एक ही व्यक्ति के नाम है। इस एक ही शब्द के अनेक रूप देखकर ही ऐसा लगता है कि यह शब्द किसी आर्येतर भाषा के शब्द का रूपान्तर है। लाकुलीश या नकुलीश का मत काफी पुराना है। लकुलीश शिव की लकुल या लकुट (लाठी) धारण करने वाली अनेक पुरानी मूर्तिया राजपूताना, मालवा, गुजरात आदि की ओर पाई गई हैं। इन मूर्तियो की बाह्य वेश भूषा भी उन्हे अन्य मूर्तियो से स्पष्ट रूप से अलग कर देती है। माथे पर घना केश कलाप, एक हाथ मे बीजपूरक का पुन्य और दूसरे मे लगुड (लाठी)। इन मूर्तियो की विशिष्टता है। लकुली, लगुली, या लगुडी (लाठी) धारण करने के कारण ही यह देवता लकुलीश कहे जाते हैं। कहते है मथुरा मे कोई शैव स्तम्भ आविष्कृत हुआ है जिसमे उत्कीर्ण लेख के अध्ययन से पता चलता है कि इसका समय विक्रम से दो सौ वष बाद है।[3] कहा जाता है इसी काल मे हुविष्क के सिक्को पर लकुटधारी शिव की मूर्तियाँ भी मिलती है। मुझे मथुरा के शैव स्तम्भ वाले लेख को देखने का मौका नही मिला है मगर यदि यह सत्य है कि एक ही काल मे उनका मनुष्य-रूप मे आविर्भाव भी हुआ और देवता रूप मे सिक्को पर स्थान भी मिला तो साधारण बुद्धि के व्यक्ति के लिये यह बात बहुत विश्वसनीय नही रह जाती।

अब यह जो लकुलि, लगुलि, लकुटि आदि एक ही शब्द के अनेक रूप हैं वही यह सोचने को मजबूर करते है कि यह शब्द सस्कृत मे कही बाहर से आया है। शायद ये किसी आर्येतर शब्द के आर्यो द्वारा गृहीत रूप हैं। यदि हमे इनके मूल उत्स का पता चल जाय, तो इस धम-विश्वास के आदिम रूप

१ जनल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, बम्बइ शाखा, जिल्द २२, पृष्ठ १२१।

२ ब्रिग्स, गोरखनाथ एड कनफटा योगाज पृष्ठ, ४२०।

३ बिश्वभारती पत्रिका भाग १ में प० बलदेव उपाध्याय ने इस विषय पर उत्कृष्ट लेख लिखा है।

के सम्बन्ध मे भी सम्भवत कुछ अनुमान लगा सकेंगे। इसमे तो कोई सन्देह ही नही कि लकुलीश पाशुपतो मे बडे शक्तिशाली मनीषी रहे होगे। ये सिफ धार्मिक मतवाद के ही नही, दशन के क्षेत्र मे भी अपनी महिमा प्रतिष्ठित करने मे समथ हुये थे। फिर भी हिन्दू पुराणो के विद्यार्थी को यह समझने के लिए कुछ विशेष श्रम नही करना पडेगा कि बहुत दिनो तक लाकुल पाशुपत अवैदिक मत के अनुयायी माने जाते रहे। कूम पुराण मे तो कापालिक, लाकुल, वाम, भैरव आदि मतो को मोहशास्त्र बताया गया है।[1] इसी पुराण मे अन्यत्र दो प्रकार के पाशुपत बताये गए है—वैदिक और अवैदिक। शकराचाय ने भी शारीरिक भाष्य मे (अ० ३८ पृष्ठ ७४१) इन्हे वेद बाह्य ही समझा था। ऐसा जान पडता है कि यह मूलत आर्येतर धम-विश्वास था, पर विक्रम सवत् आरम्भ होने के आसपास अपने आप ही महिमा अनुभव कराने मे समथ हो सका यद्यपि दीघकाल तक उसके अवैदिक रूप को लोग भुला नही सके।

प्रो० जीन प्रज्युलुस्की भाषाशास्त्र के बहुत मान्य विद्वान है। उनको ऊपर बताई बातो का कुछ पता नही था। उ होने स्वतन्त्र भाव से आस्ट्रो एशियाई भाषाओ के अध्ययन के बाद दिखाया है कि प्राचीन और अर्वाचीन भाषाओ मे कई शब्द ऐसे हैं जो मूल रूप मे आस्ट्रो-एशियाई भाषाओ के शब्द है। बहुत प्राचीन काल मे ही वे आय भाषाओ मे गृहीत हो गए थे। और भी अनेक पडितो ने, जिसमे प्रो० सिल्वा लेवी, डा० सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय, डा० प्रबोधचन्द्र बागची आदि प्रमुख हैं, इस विषय मे नई बातो का पता लगाया है। प्रो० प्रज्युलुस्की ने दिखाया है लिंग, लागल, लागूल, लगुड, लकुट आदि शब्द आस्ट्रो-एशियाई भाषाओ से आय-भाषा मे गृहीत हुये है।[2] उक्त पडित ने

१ एव सवोधितोरुद्रो माधवेन मुरारिणा।
चकार मोहशास्त्राणि केशवो पि शिवेरित।
कपाल लाकुल वाम भैरव पूव पश्चिमम्।
पाचराय पाशुपत तथान्यानि सहस्रश।
कमं पुराण, १६ अ०, पृष्ठ १८४

अन्यानि चैवशास्त्राणि लोकेऽस्मि मोहनावितु।
वेदपाद विरुद्धाति मयेब कथितावितु।
वाम पाशुपत सोम लाकुल चैव भैरवम्।
असेव्यमेतत् कथित वेद बाह्म मथेतरम्॥
कमं पुराण, उत्तर भाग, अ० ३८

२ डा० प्रबोधचन्द्र बागची द्वारा सपादित और अनुवादित 'प्रि आयन एड प्रि-द्राविडियन इन इडिया' पृष्ठ ८ १५।

बडी विद्वत्तापूवक दिखाया है कि किस प्रकार समूची योनख्मेर श्रौर कोल श्रेणी की भाषाश्रो मे इन शब्दो का एक ही जैसा मूल प्राप्त हुश्रा है श्रौर किस प्रकार इनके श्रथ थोडा-थोडा श्रलग होने-होते वतमान श्रवस्था तक पहुँचे हैं। यद्यपि श्रापको इस तथ्य के बल पर किसी नतीजे तक पहुँचने की श्रोर नही ले जाना चाहता, तथापि यहाँ यह स्मरणीय है कि लिंग-रूप मे शिव की पूजा इस देश मे काफी परिचित श्रौर पुरानी घटना है, लकुटधारी शिव की चर्चा हमने श्रभी की है श्रौर यद्यपि सस्कृत के प्राचीनतर साहित्य मे लागूलधारी शिव का सधान हमे नही मिलता परन्तु हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी को लागूल रूप-धारी हनुमान की रुद्र रूप मे उपासना बहुत नई बात नही जँचेगी। परवर्ती काल मे पचमुख हनुमान की रुद्र रूप मे तान्त्रिक उपासना भी मिल जाएगी। तुलसीदास जी ने रुद्र रूप मे हनुमान जी को स्मरण किया था

जयति रनधीर रघुवीर हित देवतानि रुद्र श्रवतार ससार पाता।
विप्र सुर सिद्ध मुनि श्राशिषाकर वपुष विमल गुन बुद्धि वारिधि विधाता॥

श्रौर तान्त्रिक श्रभिचार के शामक के रूप मे भी हनुमान जी की स्तुति की थी

जयति परमत्र जयाभिचार ग्रसन, कारमनि कूट कृत्यादि हन्ता।
साकिनी, डाकिनी, पूतना, वेताल प्रेत भूत प्रमथ जूथ जता॥

जो लोग हिन्दी मे ऐसी नई बात देखकर चौंकते है उन्हे श्रपना मत बदल लेना चाहिए। लिंग पूजा श्रौर लकुलधारी शिव की उपासना जितनी पुरानी है, उतनी ही पुरानी है लागूलधारी शिव की पूजा भी। श्रन्तर केवल इतना ही है कि इनकी साहित्य मे श्रभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न काल मे हुई है श्रौर श्रभिव्यक्ति-काल की बहुविधि विशेषताश्रो का प्रभाव किसी न किसी रूप मे रह गया है। मेरे मित्र प्रो० प्रह्लाद प्रधान के कथनानुसार यहाँ यह जोड देना श्रावश्यक है कि लगुड श्रौर लागूल के ही समान लागलाधारी रुद्र का पता भी उडिया कवि यशोव तदास के काव्य मे मिलता है। इस स्थान पर मैं श्रापसे श्राग्रहपूवक श्रनुरोध करता हूँ कि श्राप मेरे वक्तव्य का यह श्रथ न समझे कि मैं शैव या पाशुपत मत के श्राचार्यो को वेद-विरोधी या श्रब्राह्मण कह रहा हूँ। मेरा केवल इतना ही कहना है कि ये विश्वास बहुत पुराने हैं। इनके उपास्य देवता प्रवतक या व्याख्याता मुनियो के नाम मे श्रार्येतर भाषा है, ऐसा तज्ज्ञ पडितो का मत है। इससे यह नही सिद्ध होता कि इस समय जिस रूप मे ये मत उपलब्ध हैं वे पूर्णत श्रार्येतर विश्वास है या वेद-बाह्य हैं। निस्सदेह श्रनेक बौद्धिक घात-प्रतिघातो श्रौर श्रार्य-विश्वासो के प्रभाव से इनकी कायापलट गई

है, पर मूलत वे किसी आर्येतर जाति के विश्वास हैं और वह आर्येतर जाति आस्ट्रो एशियाई मानव मडली मे से कोई रही होगी। यह भी हो सकता है कि इनमे और भी किसी प्रबल मत का मिश्रण हो।

यह कोई अनहोनी बात नही है। मनुष्य अद्भुत ग्रहणशील प्राणी है। वह अपनी आवश्यकता के अनुमार रीति नीति, धम-विश्वास, सब कुछ ग्रहण कर लेता है। गुरु गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्र नाथ कहे जाते है, हिन्दी मे इनका नाम 'मच्छन्दर नाथ' आता है। जान पडता है इसी शब्द को शुद्ध करके 'मत्स्ये द्र' शब्द की रचना हुई। अभिनवगुप्तपाद ने तत्रालोक मे इनकी स्तुति मच्छन्द नाम से की है।

रागारुण ग्रथि विलावकीर्णं
यो जाल मातान वितान वृत्ति।
कालोम्भित बाह्य पके चकार
स्यान्मे स मच्छन्द विभु प्रसन्न ।

इससे पता चलता है कि ईस्वी १०वी शती मे इनका नाम सस्कृत मे भी 'मच्छन्द' ही था। 'हनुमन्त' भी सस्कृत मे विशोधित होकर हनुमान बना है। इन वानर देवता की उपासना अति प्राचीन है और उतनी ही प्राचीन है लागूली शिव या रुद्र की उपासना। दोनो ने कब मिलित होकर लागूलधारी रुद्रावतार का रूप धारण कर लिया, कह सकना कठिन है। हाल के अनुसधानो ने किसी-किसी पडित को यह सोचने के लिये बाध्य किया है कि वस्तुत आधुनिक गोड ही रामायण युग के कुणप, कोण्डप है और आधुनिक ओराव और शबर क्रमश वानर और भालू है। भाषा शास्त्र के आधार पर इन बातो की सचाई के प्रमाण सग्रह किए गए है और अन्य गवाहियो से भी इन तथ्यो का प्रमाणित होना बताया जाता है।[1] और कहा जाता है कि लका कही अमरकटक के पास ही थी।[2] स्वय रुद्र शब्द भी उसी प्रकार द्राविड 'रुध्र' से सबद्ध बताया जाता है—[3] जिस प्रकार शिव और शभु शब्द का क्रमश द्राविड चिवन् (लाल), चेम्पु (ताम्र रक्त) शब्दो से। इस प्रकार केवल हनुमान के रुद्रावतार की कल्पना के मूल मे पाई जाने वाली भाषा शास्त्रीय गवाहियो पर ही ध्यान दिया जाय तो पता चलता है कि एकाधिक सास्कृतिक वायुमडल मे पले हुए अनेक शब्दो

१ भा कमेमोरेशन वोल्यूम में डा० हीरालाल का 'दि सिचुएशन आफ रावणास् लका।'

२ डी० सिल्वा लेवी का निबध 'प्री आर्यन् एड प्री-ड्रैविडियन।

३ बुद्धिस्ट सरवाइवल इन बेंगाल, पृष्ठ ७९।

से रस खीचकर यह विश्वास इतना शक्तिशाली हुआ है। इस पर वैदिक और तान्त्रिक बुद्धिवादियो का जो रग चढा है उसे हम फिलहाल उचित अवसर के लिये छोडते हैं।

इस दृष्टि से देखें तो परवर्ती साहित्य को हम प्राचीनतर साहित्य का पूरक कह सकने हैं। अपभ्रश मे, तत्परवर्ती भाषाओ के साहित्य मे, लोक कथाओ मे, लोक भाषा मे और लोकोक्तियो मे हमे भूले हुए काल के अध्ययन की सामग्री मिल सकती है। साधारणत इस परवर्ती साहित्य को सस्कृत का अनुवाद मात्र और उससे हीन समझकर उपेक्ष्य समझा जाता रहा है परन्तु यह विचार आशिक रूप मे ही सत्य है। सस्कृत मे ऐसा बहुत बडा साहित्य है जो लोक-प्रचलित कथानको और विश्वासो का परिमार्जित और बुद्धि-समजस रूप है निस्सदेह देशी भाषाओ मे सस्कृत का अनुवाद और तत्प्रभावित रूप भी है पर अनुसधित्सु को इसे पहचानने मे विशेष कठिनाई नही होती। हमारे हिन्दी साहित्य के आरम्भिक काल की अनेक कठिनाइया इस बात को ध्यान मे रखने से आसानी से हल की जा सकती है। मै एक या दो उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट करूँगा।

महान् गुरु गोरखनाथ के आविर्भाव काल को लेकर अनेक बडे विद्वानो को भी कठिनाई का अनुभव करना पडा है। गुरु गोरखनाथ विषयक अनुश्रुतियो का सग्रह करके सर जाज ग्रियसन ने दिखाया है कि इन अनुश्रुतियो पर विश्वास किया जाय तो गोरखनाथ का समय पहली से लेकर चौदहवी शती तक पडता है। मैंने अपनी पुस्तक 'नाथ सम्प्रदाय' मे विस्तारपूवक इन अनुश्रुतियो की समीक्षा की है और इस निष्कष पर पहुँचा हूँ कि उनका समय सन् ई० की नवी-दसवी शताब्दी है। अब इस मत को मानने से कैसी कठिनाइयो का सामना करता पडता है, इसकी दो बानगी देता हूँ।

बप्पा रावल एक ऐतिहासिक पुरुष हुए है। अनुश्रुतियो के अनुसार वे गुरु गोरखनाथ के शिष्य थे। इसी प्रकार रसाल भी एक ऐतिहासिक राजा हुए हैं। इनके वैमात्रेय भाई पूरन भगत या चौरगी नाथ थे, जो गुरु गोरखनाथ के गुरु-भाई थे। इस प्रकार बप्पा रावल और गुरु गोरखनाथ और राजा रसाल सम-सामयिक होने हैं। इनमे से किसी एक का समय मालूम होने से बाकी दोनो का समय आसानी से मालूम होना चाहिए। पर बात एकदम उलटी है। इनका समसामयिक होना समस्या को सुलझाता नही, बल्कि और भी उलझा देता है। स्व० प० गौरीशकर हीराचद ओझा ने अपने 'राजपूताने का इतिहास' (पृ० ११२) मे बप्पा का समय आठवी शताब्दी के पूव भाग मे सिद्ध किया है और

ब्रिग्स ने (गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज) अनेक अटकलो के सहारे राजा रसाल का काल ग्यारहवी शताब्दी मे घसीटा है । अब परम्पराओ के मानने मे जो कठिनाई होती है उसका प्रत्यक्ष स्वरूप आपकी समझ मे आ जाएगा । मैं यहाँ कुछ थोडे से ऐतिहासिक तथ्यो से आपको अवगत करा दू तो उपस्थित प्रसग की चर्चा सहज हो जाएगी ।

महाराणा कुम्भा के समय मे 'एकलिग माहात्म्य' नामक पुस्तक लिखी गई थी । उसमे पुरातन कवियो का मत उद्धृत करके बताया गया है कि स० ८१० विक्रमी मे अर्थात् सन् ७५३ मे बप्पा नामक प्रथम राजा हुआ, जो एकलिंग से वर प्राप्त करने मे समथ हुआ था

उक्त च पुरातनै कविभि

आकाश चन्द्र दिग्गज सख्ये सवत्सरे बभूवस्क्ष

श्री एक लिंग शकर लब्ध वरो बाप्प भूपाल ॥

ओझा जी ने इस वष को बप्पा के राज्य त्याग का वष सिद्ध किया है । बप्पा इसके पूर्व ही सिहासनासीन हो चुके थे (राजपूताने का इतिहास) परन्तु ओझा जी ने बप्पा-सबधी प्रसिद्धियो के सिलसिले मे गोरखनाथ से उनके सम्बन्ध वाली किसी प्रसिद्धि की चर्चा नही की है । बप्पा और उनके गुरु के सम्बन्ध मे जितनी प्रसिद्धियाँ है उनमे बप्पा के गुरु का नाम हारीत ऋषि या हरितराक्षि बताया गया है जो लाकुलीश पाशुपत मत के कोई सिद्ध पुरुष रहे होगे । फ्लीट ने स० १९०७ मे एक प्रबन्ध लिखा था, जिसमे एकलिंग जी के मन्दिर को लाकुल मन्दिर सिद्ध किया गया था (जनल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी, सन् १९०७, पृष्ठ ४२०) । एकलिंग जी के मन्दिर मे एक लेख पाया गया जो सन् ९७१ ई० का है । इस लेख से मन्दिर की प्राचीनता सिद्ध होती है और यह अनुमान किया जा सकता है कि बप्पा रावल ने ही इस मन्दिर का निर्माण कराया होगा । फिर बप्पा का एक सोने का सिक्का अजमेर मे मिला है, जो घिस जाने पर ६६ रत्ती के करीब है । इस सिक्के का जो विवरण प्रकाशित हुआ है (ना० प्र० प० भाग १, पृष्ठ २४१,८५ मे ओझा जी का लेख) उससे यह निश्चित रूप से सिद्ध होता है कि बप्पा लाकुलीश पाशुपत मत के ही अनु-यायी थे । इसमे सामने की तरफ (१) वर्तुलाकार माला के नीचे 'श्री बाप्पा' लिखा हुआ है, (२) माला के पास बाईं ओर एक त्रिशूल है, और (३) त्रिशूल की दाहिनी ओर दो पत्थरो की वेदी पर एक शिवलिंग है, (४) इसकी दाहिनी ओर नदी है और लिंग तथा नदी के बीच प्रणाम करते हुए बप्पा का अधलेटा अग है । पीछे की तरफ भी एक गौ खडी है जो 'बप्पा' के प्रसिद्ध गुरु

लकुलीश सम्प्रदाय के कनफटे साधु (नाथ) हारीत राशि की कामधेनु होगी, जिसकी सेवा बप्पा ने की थी। ऐसी कथा प्रसिद्ध है राजपूताने का इतिहास पृष्ठ ४१५, १६)। इस सिक्के के चिह्न बताते है कि बप्पा लाकुलीश सम्प्रदाय के शिष्य थे।

अब बप्पा का सिक्का और उनके विषय मे उपलब्ध प्रसिद्धियाँ दोनो ही सिद्ध करती है कि वे लाकुलीश सम्प्रदाय के भक्त थे। इस सम्प्रदाय के भक्तो को पुराणो मे लाकुल कहा गया है। प्राय ही भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के भक्त राजगण अपने नाम के साथ सम्प्रदाय-वाचक शब्द जोडा करते थे। यह निश्चित-सा जान पडता है कि बप्पा के नाम के साथ जुडा हुआ रावल' शब्द लाकुल का ही अपभ्रश है और माहेश्वर, भागवत आदि के समान सम्प्रदाय का सूचक है।

'रावल' नामक नाथ साधुओ की एक शाखा आज भी वर्तमान है। यदि 'रावल' शब्द को राजकुल से सबद्ध न सोचकर 'लाकुल' शब्द से सबद्ध सोचा गया होता तो कोई उलझन पैदा हुई ही नही होती। इस रास्ते सोचने से कुछ नई बाते सूझती। हिन्दी साहित्य के आरम्भ काल के नाथ योगियो ने सच्चे योगियो को रावल कहा है

रावल ले जे चाहै राह।
उलटी लहर समावै माह।
पच तन्त्र का जाणै भेव।
ते तो रावल परतिठा देव।

(योगप्रवाह, पृष्ठ ६९, मे घोडा चूली का वचन)

ब्रिग्स ने अपनी पुस्तक 'गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज़' मे एक किम्वदन्ती का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार शिवजी के प्रवर्तित अठारह सम्प्रदाय थे और गोरखनाथ के बारह। ये आपस मे झगडते रहते थे। इनमे से छह छह को चुनकर गोरखनाथ ने अपने बारह पथ प्रतिष्ठित किये अर्थात् इस समय जो योगियो के बारह पथ है उनमे छह शिवजी के द्वारा प्रवर्तित हैं और छह गोरखनाथ के द्वारा प्रवर्तित। यह परम्परा अब भी नाथ योगियो मे जीवित है। इस किंवदन्ती से अनुमान किया जा सकता है कि गोरखनाथ ने अपने से पूर्व के कई शैव सम्प्रदायो मे से छह को चुनकर अपने पथ मे अन्तर्भुक्त किया था। मैंने अपनी पुस्तक 'नाथ सम्प्रदाय' मे विस्तारपूर्वक इस तथ्य की जाँच की है। यहाँ इतना कह रखना ही पर्याप्त है कि गोरखनाथ के मत मे उनके पहले के सप्रदाय भी अन्तर्भुक्त हैं। रावल ऐसे ही हैं क्योकि नाथ पथ की सभी परम्पराओ के अनुसार ये लोग शिवजी द्वारा प्रवर्तित छह

ब्रिग्स ने (गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज़) अनेक अटकलो के सहारे राजा रसाल का काल ग्यारहवी शताब्दी मे घसीटा है । अब परम्पराओ के मानने मे जो कठिनाई होती है उसका प्रत्यक्ष स्वरूप आपकी समझ मे आ जाएगा । मैं यहाँ कुछ थोडे से ऐतिहासिक तथ्यो से आपको अवगत करा दूँ तो उपस्थित प्रसग की चर्चा सहज हो जाएगी ।

महाराणा कुम्भा के समय मे 'एकलिंग माहात्म्य' नामक पुस्तक लिखी गई थी । उसमे पुरातन कवियो का मत उद्धृत करके बताया गया है कि स० ८१० विक्रमी मे अर्थात् सन् ७५३ मे बप्पा नामक प्रथम राजा हुआ, जो एकलिंग से वर प्राप्त करने मे समथ हुआ था

उक्त च पुरातनै कविभि

आकाश चन्द्र दिग्गज सख्ये सवत्सरे बभूवस्क्ष
श्री एक लिंग शकर लब्ध वरो बाप्प भूपाल ॥

ओझा जी ने इस वष को बप्पा के राज्य त्याग का वष सिद्ध किया है । बप्पा इसके पूव ही सिहासनासीन हो चुके थे (राजपूताने का इतिहास) परन्तु ओझा जी ने बप्पा-सबधी प्रसिद्धियो के सिलसिले मे गोरखनाथ से उनके सम्बन्ध वाली किसी प्रसिद्धि की चर्चा नही की है । बप्पा और उनके गुरु के सम्बन्ध मे जितनी प्रसिद्धियाँ है उनमे बप्पा के गुरु का नाम हारीत ऋषि या हरितराक्षि बताया गया है जो लाकुलीश पाशुपत मत के कोई सिद्ध पुरुष रहे होगे । फ्लीट ने स० १९०७ मे एक प्रबन्ध लिखा था, जिसमे एकलिंग जी के मन्दिर को लाकुल मन्दिर सिद्ध किया गया था (जनल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी, सन् १९०७, पृष्ठ ४२०) । एकलिंग जी के मन्दिर मे एक लेख पाया गया जो सन् ९७१ ई० का है । इस लेख से मन्दिर की प्राचीनता सिद्ध होती है और यह अनुमान किया जा सकता है कि बप्पा रावल ने ही इस मन्दिर का निर्माण कराया होगा । फिर बप्पा का एक सोने का सिक्का अजमेर मे मिला है, जो घिस जाने पर ६६ रत्ती के करीब है । इस सिक्के का जो विवरण प्रकाशित हुआ है (ना० प्र० प० भाग १, पृष्ठ २४१,८५ मे ओझा जी का लेख) उससे यह निश्चित रूप से सिद्ध होता है कि बप्पा लाकुलीश पाशुपत मत के ही अनुयायी थे । इसमे सामने की तरफ (१) वर्तुलाकार माला के नीचे 'श्री बाप्पा' लिखा हुआ है, (२) माला के पास बाईं ओर एक त्रिशूल है, और (३) त्रिशूल की दाहिनी ओर दो पत्थरो की वेदी पर एक शिवलिंग है, (४) इसकी दाहिनी ओर नदी है और लिंग तथा नदी के बीच प्रणाम करते हुए बप्पा का अधलेटा अंग है । पीछे की तरफ भी एक गौ खडी है जो 'बप्पा' के प्रसिद्ध गुरु

लकुलीश सम्प्रदाय के कनफटे साधु (नाथ) हारीत राशि की कामधेनु होगी, जिसकी सेवा बप्पा ने की थी। ऐसी कथा प्रसिद्ध है राजपूताने का इतिहास पृष्ठ ४१५, १६)। इस सिक्के के चिह्न बताते है कि बप्पा लाकुलीश सम्प्रदाय के शिष्य थे।

अब बप्पा का सिक्का और उनके विषय मे उपलब्ध प्रसिद्धियाँ दोनो ही सिद्ध करती है कि वे लाकुलीश सम्प्रदाय के भक्त थे। इस सम्प्रदाय के भक्तो को पुराणो मे लाकुल कहा गया है। प्राय ही भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के भक्त राजगण अपने नाम के साथ सम्प्रदाय-वाचक शब्द जोडा करते थे। यह निश्चित-सा जान पडता है कि बप्पा के नाम के साथ जुडा हुआ रावल' शब्द लाकुल का ही अपभ्रश है और माहेश्वर, भागवत आदि के समान सम्प्रदाय का सूचक है।

'रावल' नामक नाथ साधुओ की एक शाखा आज भी वर्तमान है। यदि 'रावल' शब्द को राजकुल से सबद्ध न सोचकर 'लाकुल' शब्द से सबद्ध सोचा गया होता तो कोई उलझन पैदा हुई ही नही होती। इस रास्ते सोचने से कुछ नई बाते सूझती। हिन्दी साहित्य के आरम्भ काल के नाथ योगियो ने सच्चे योगियो को रावल कहा है

रावल ले जे चाहै राह।
उलटी लहर समावै माह।
पच तन्त्र का जाणै भेव।
ते तो रावल परतिठा देव।

(योगप्रवाह, पृष्ठ ६९, मे घोडा चूली का वचन)

ब्रिग्स ने अपनी पुस्तक 'गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज़' मे एक किम्वदन्ती का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार शिवजी के प्रवर्तित अठारह सम्प्रदाय थे और गोरखनाथ के बारह। ये आपस मे झगडते रहते थे। इनमे से छह छह को चुनकर गोरखनाथ ने अपने बारह पथ प्रतिष्ठित किये अर्थात् इस समय जो योगियो के बारह पथ हैं उनमे छह शिवजी के द्वारा प्रवर्तित हैं और छह गोरखनाथ के द्वारा प्रवर्तित। यह परम्परा अब भी नाथ योगियो मे जीवित है। इस किंवदन्ती से अनुमान किया जा सकता है कि गोरखनाथ ने अपने से पूर्व के कई शैव सम्प्रदायो मे से छह को चुनकर अपने पथ मे अन्तर्भुक्त किया था। मैंने अपनी पुस्तक 'नाथ सम्प्रदाय' मे विस्तारपूर्वक इस तथ्य की जाँच की है। यहाँ इतना कह रखना ही पर्याप्त है कि गोरखनाथ के मत मे उनके पहले के सप्रदाय भी अन्तर्भुक्त हैं। रावल ऐसे ही हैं क्योकि नाथ पथ की सभी परम्पराओ के अनुसार ये लोग शिवजी द्वारा प्रवर्तित छह

सप्रदायो मे से एक है। एक और सम्प्रदाय पागल पथियो या 'गल' लोगो का है। इनके अधिकाश अनुयायी इस समय मुसलमान हो गए है। पागल पथ के प्रवतक पूरन भगत या चौरगी नाथ है जो राजा रसाल के वैमात्रेय भाई थे। ज्वाला मुखी मुसलमान योगी है जो दो सप्रदायो, माढिया और गल को, अपने मत का अनुयायी समझते है। गल और पागल शब्दो के बारे मे मुझे कुछ कहने की प्रेरणा मिल रही है, पर मेरा ख्याल है कि मै काफी बहक चुका हूँ। अधिक बहकना अनुचित है, इसलिये अभी प्रकृत विषय पर ही जमे रहना चाहता हूँ। अब रावल और गल सम्प्रदाय काफी घुल-मिल चुके है, इसलिये लोक मे इनके लिये 'रावल गल्ला' ही चल निकला है। यह आपको स्मरण करा दू कि बप्पा के समय के साथ गोरखनाथ के समय को घसीटने की कोई ज़रूरत नही, क्योकि बप्पा जिस रावल या लाकुल सम्प्रदाय के अनुयायी थे वह बहुत बाद मे गोरखनाथ के बारह पथो मे अन्तभुक्त हुआ था। वस्तुत वह बहुत पुराना शव मत था। अब हम पागल या गल लोगो की बात पर विचार करे।

एक पुरानी परम्परा के अनुसार राजा रसाल के पिता प्रतापी राजा गल की राजधानी रावलपिंडी मे थी। अनुमान किया गया है कि 'गज़नी' नाम के मूल मे भी इन्ही का नाम है। सभवत पुराना सस्कृत रूप गजनवी जसा कुछ रहा हो। कहते हैं कि बाद मे किसी कारणवश गाज राजा को अपनी राजधानी साकल (स्यालकोट) मे हटानी पडी थी। रावल योगियो के स्थान पेशावर और रोहतक से लेकर अफगानिस्तान तक फैले हुए है। रावलपिंडी उनका बहुत बडा पुण्य स्थान है। इसका नाम गजपुरी था।

सन् १८८६ मे टेम्पुल ने खोज कर देखा था कि राजा रसाल का समय सातवी-आठवी शताब्दी मे ही हो सकता है। अरबी इतिहासकारो ने आठवी शताब्दी के एक प्रतापी हिन्दू राजा की बहुत चर्चा की है। उसका नाम उन्होने कई प्रकार से लिखा है, जिसमे 'र' 'स' 'ल' अक्षर अवश्य आते है। फिर रिसल नामक एक हिन्दू राजा के साथ मुहम्मद कासिम ने सिंध मे सन्धि की थी। सन्धि का समय आठवी शताब्दी का प्रारम्भ भाग है। इस और कुछ और अन्य प्रामाणिक तथ्यो के आधार पर टेम्पुल ने अनुमान किया है कि 'रिसल' वस्तुत राजा रसाल ही हैं और उनका समय ई० सन् की आठवी शताब्दी का प्रथम भाग है। गोरखनाथ के समसामयिक रूप मे प्रसिद्ध होने के कारण कई पण्डितो ने व्यर्थ ही राजा रसाल और पूरन भगत को ग्यारहवी बारहवी शताब्दी मे सिद्ध करने का प्रयास किया है। वस्तुत इन सारी उलझनो के मूल मे एक ग़लत-फहमी है। यह ठीक से समझा ही नही गया कि अनेक गोरक्ष पूर्व शैव मे हुए

जो गोरखनाथ के बारह पन्थो मे अन्तभु क्त है और इन पूववर्ती मतो के प्रवतक महान् शैव साधकगण गोरखनाथ के शिष्य या रूप मान लिये गये हैं क्योकि आध्यात्मिक दृष्टि से योगी लोग शिव और गोरख मे कोई भेद नही करते। गोरख शिव के ही रूप है और जहाँ कही पुरानी कथा मे शिव का स्थान था, वहाँ गोरखनाथ को बैठा देने मे उन्हे कोई असामजस्य मालूम नही हुआ। गोरख-नाथ इस दृष्टि से साक्षात् शिव है अतएव अनादि हैं।

अब मैं फिर अपनी प्रकृत बात पर आ सकता हूँ। लोक-भाषा और लोक-साहित्य हमे अनेक उलझनो के सुलझाने मे सहायता पहुँचा सकता है। 'रावल' शब्द के इतिहास से हम इस नतीजे पर अनायास पहुँचते हैं।

अध्यापक सिल्वा लेवी ने सन् १९२३ मे अपने एक मौलिक लेख 'प्रे आर्या ए प्रे द्राविदिया दा लैन्द' (भारत मे आय पूव और द्रविड पूव) मे दिखाया था कि प्राचीन भारत के अनेक भौगोलिक नाम जो साथ-साथ बोले जाते हैं, जैसे कोसल तोसल, अग-बग, कलिग-त्रिलिग, उत्कल मेकल और पुलिद कुलिद, आस्ट्रो-एशियाई भाषाओ की शब्द-रचना पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाते हैं और इनके द्वन्द्वात्मक रूप का कुछ रहस्य समझ मे आ जाता है। अच्छ-वच्छ, तक्कोल-क्क्कोल जाति के शब्द भी इसी श्रेणी के है। अध्यापक लेवी के इस लेख का अग्रेज़ी अनुवाद डा० प्र० च द्र बागची द्वारा अनुवादित और सम्पादित पुस्तक 'प्री आयन एण्ड प्री ड्रेविडियन इन इण्डिया' मे प्राप्य है। अध्यापक लेवी ने अपने लेख का उपसहार करते हुए लिखा था 'हमे इस बात की अच्छी तरह परीक्षा कर लेनी चाहिए कि भारतवष की दन्तकथाएँ, धर्म और दार्शनिक चिन्ताएँ कही इस प्राचीन युग के साथ विजडित तो नही है। आज तक इस देश पर केवल इडो यूरोपियन दृष्टि से ही विचार किया गया है। हमे याद रखना चाहिये कि भारतवष वस्तुत एक बडा भारी नाविक देश रहा है। जिस वेग से भारतीय उपनिवेश सुदूर-पूव की ओर बढते गये वह किसी नये जल-पथ का आविष्कार करने के कारण नही। वास्तव मे इन पुराने भारतीय पर्यटको, व्यापारियो और धम प्रचारको ने जल-यात्रा के प्राचीन साधनो की उन्नति से ही लाभ उठाया था और पहले की अपेक्षा अधिक आराम और सफलता के साथ सिर्फ उन प्राचीन जल-पथो का अनुसरण-मात्र किया था जिन्हे आय-पूव जातियो ने अत्य त प्राचीन काल से ही खोज लिया था। परवर्ती काल मे आय लोगो ने और उनके द्वारा प्रभावित समूचे भारतीयो ने इन जातियो को बर्बर समझा था।

अध्यापक प्रज्युलुस्की ने आस्ट्रो एशियाई सबधो को सिफ भाषा-शास्त्रीय

सीमा तक ही सीमित नही रखा है बल्कि सास्कृतिक क्षेत्र मे भी अग्रसर किया है। महाभारत की मत्स्यगधा वाली कहानी तथा नागो की कथाओ के साथ कुछ आस्ट्रो-एशियाई कथाओ की तुलना करते हुए वे इस नतीजे पर पहुँचते है कि इन कहानियो और दन्तकथाओ की परिकल्पना किन्ही सामुद्रिक मानव-मण्डली ने की होगी, और इनकी सभ्यता और सामाजिक सघटन अपने प्रतिवेशी चीनियो और भारतीयो से भिन्न थी।[1]

इस प्रसग मे हमने मनुष्य के बुद्धि और भावपक्ष को छोडकर केवल उसके नृतत्व-विद्या और भाषा-विज्ञान से सम्बद्ध पक्ष का ही परिचय कराया है। मेरा उद्देश्य यह दिखाना नही है कि ये ही विषय हमारे साहित्य के प्रधान रूप से प्रतिपाद्य है, हमने केवल यह देखने का प्रयत्न किया है कि इस उपेक्षित दिशा से भी बहुत प्रकाश मिलने की सभावना है। जीवन्त जाति के पचाने की क्रिया भी जीवन्त होती है। न जाने कितने ही शब्द और अर्थ, धर्म और आचार, ज्ञान और विश्वास कहा-कहा से आकर इस महान् और जीवन्त भारतवर्ष के पाक-यन्त्र मे पडकर जीवन्त रक्त-मज्जा के रूप मे बदल गये है। कौन इसका हिसाब बता सकेगा ? हिन्दी साहित्य मे इस क्रिया के कुछ चिह्न स्पष्ट भाव से लक्षित हो जाते है। हम यदि जीवन्त मनुष्य के अध्ययन के साधक रूप मे ही अपने साहित्य और भाषा का अध्ययन करे तो कही पछताने की जरूरत नही रहेगी। और सच पूछा जाये तो जैसा कि मैक्समूलर ने आज से वर्षों पहले कहा था, 'समूचे शास्त्र, ज्ञान और भाषा-विज्ञान का उद्देश्य, श्रेष्ठ अर्थों मे, यही है कि मनुष्य क्या रहा है के माध्यम से यह समझा जा सके, कि मनुष्य क्या है। इस आदर्श को दिशा-दर्शक ध्रुव तारा मानकर चलने से गूढ और गहन तत्त्व-चिन्तन मे लगे रहने पर भी हम दिग्भ्रम नही हो सकेगे।'

हमारे साहित्य का क्षेत्र बहुत विशाल और व्यापक है। वह मनुष्य की अद्भुत ग्रहणशीलता, विशुद्ध अनाविल महिमा और अकल्पनीय एकता का सदेशवाहक है। मध्य युग के साहित्य मे बार-बार इस महान् मानव-गुण ने बाधाओं और विघ्नो को ठेलकर सिर उठाया है। हिन्दी का मध्ययुगीन साहित्य हमे मनुष्य की महिमा को स्पष्ट रूप से हृदयगम करा देता है।

अभी जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि प्राचीन साहित्य के अध्ययन के लिये सुसपादित ग्रथो की बहुत आवश्यकता है। दुर्भाग्यवश हिन्दी के प्राचीन-साहित्य के सुसपादित ग्रथ बहुत कम हैं। मुनि जिनविजयजी, डा० माताप्रसाद

१ प्री आर्यन एड प्री ड्रैविडियन इन इडिया, पृष्ठ १३

गुप्त आदि बहुत थोडे से विद्वान दत्त चित्त अवश्य हैं और उन्होने महत्वपूर्ण कार्य भी किए है—परन्तु इस दिशा मे काय चलाने का बहुत क्षेत्र पडा हुआ है। हस्त-लेखो का सग्रह, उनके पाठ-भेदो का सकलन, पाठ विकृतियो के आधार पर उनका वर्गीकरण और शुद्ध पाठ का उद्धार बहुत ही महत्वपूर्ण विषय हैं। क्या ही अच्छा होता कि हिन्दी के शोध काय के लिये सपादन को भी एक आवश्यक विषय माना जाता। विदेशो मे अच्छे सपादित ग्रथो पर विश्वविद्यालय की सम्मानित उपाधि देने की प्रथा है। अपने देश के कुछ विश्वविद्यालयो ने भी इधर कदम उठाया है। परन्तु अधिकाश विश्वविद्यालय इस काय के लिये विशेष उत्साह नही दिखाते। इधर हस्त-लेखो के विवरण-सग्रह करने की प्रवृत्ति बढ रही है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने इस काय को लगभग आज से साठ वष पहले शुरू किया था, और निष्ठापूर्वक उसमे लगी हुई ह। बिहार, राजस्थान आदि राज्यो मे भी निश्चित योजना के अनुसार यह काय आरम्भ हो गया है, और अभी भी यह प्रयत्न बाल्यावस्था मे ही कहा जाना चाहिए। जिन ग्रथागारो मे हस्त-लेखो का अच्छा सग्रह है, उनमे कुछ को छोडकर अधिकाश के पास वैज्ञानिक पद्धति पर लिखी हुई सदर्भ सूची या 'कैटलाग' नही मिलते। शोधकर्त्ता को पत्र-व्यवहार द्वारा ग्रन्थागारो मे सुरक्षित ग्रथो की जानकारी प्राप्त करनी पडती है, उनका पाठ-सकलन करना पडता है, उचित पाठ का निणय करना पडता है और तब कही जाकर वह मूल विषय के सबध मे विचार करने का अवसर पाता है। इसका परिणाम यह होता है कि अधिकाश शोध-निबन्धो के प्राय दो-तिहाई इस प्रकार के विवरणो से भरे रहते हैं, जिनमे शोधकर्त्ता विभिन्न स्थानो से प्राप्त की हुई सामग्री का परिचय देता है और पानी पिलाने की अपेक्षा कुआँ खोदने के प्रयत्नो का ही अधिक विवरण देता है।

शोध के काय मे दो बातो की चर्चा प्राय सुनने मे आती है (१) क्षेत्र-कार्य (फील्ड वक), और (२) आसन-काय (टेबुल वक)। लोक-साहित्य का विषय हो, या लोक-भाषा के वतमान रूप का विषय हो, अथवा प्राचीन कवियो के अध्ययन का विषय हो, सवत्र शोध-कर्त्ता को दौड-धूप करनी पडती है। सब सामग्री जब उसे प्राप्त हो जाती है, तब बैठ कर आसन-काय करता है। यह व्यवस्था नितान्त आधुनिक-युग के शोध-कर्त्ताओ के लिये अनिवाय-सी हो गई है। जीवित भाषाओ के शोध-काय मे क्षेत्र-काय को इतना महत्त्व मिलने लगा है कि आसन-काय अवहेलनीय भाषा मे स्मरण किया जाने लगा है। यह बात वतमान अवस्था मे ठीक भी है। परन्तु यह भी सत्य है कि जब तक शोध-कर्त्ता जम के नही बैठता, वह गम्भीर-चिंतन और भेदक मनीषा का परिचय भी नही

दे सकेगा। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि कुछ केन्द्रीय स्थानो मे शोध-विषयक सामग्री का बहुत अच्छा सकलन हो। आज के वैज्ञानिक युग मे जबकि फोटोग्राफी का इतना विकास हो चुका है और यातायात की इतनी सहूलियत हमे प्राप्त है यह काय बहुत दुष्कर नही है, परन्तु व्यय-साध्य अवश्य है। यह ठीक है कि जितना भी सग्रह क्यो न हो क्षेत्र काय के लिये दौड धूप करने की आवश्यकता बन ही आएगी। जीवन्त लोक-भाषा और लोक साहित्य के अध्ययन के लिये तो कभी भी क्षेत्र-काय का महत्व घट नही सकता। परन्तु जहाँ तक विचारो की गहनता और गाढता का प्रश्न है आसन-काय को महत्त्व देना ही पडेगा।

क्षेत्र-काय द्वारा प्राप्त की गई सामग्री की प्रामाणिकता की जाँच भी शोध कार्य का एक आवश्यक अग है। इसके लिये सारे ससार मे प्रचलित विद्वज्जन स्वीकृत प्रणालियाँ वतमान है। जिन देशो मे शोध काय काफी अग्रसर हो चुका है उन देशो की कार्य-पद्धति का प्रत्यक्ष अनुभव भी शोध-कर्त्ता को होना चाहिए। शीघ्र ही वह समय आएगा, कि हमारे देश के शोध-प्रिय युवक और युवतियाँ भारत की सीमा मे ही आबद्ध न रहकर दूर-दूर देशो के भाषा-सम्बन्धी काय करना आरम्भ करेगे। हमे और देशो की भाषा और साहित्य का और उनमे किए जाने वाले कार्यो का प्रत्यक्ष ज्ञान होगा तभी उसके उचित परिपाश्व मे अध्ययन कर सकेगे। विश्वविद्यालयो को कभी-कभी अनुसधान-प्रेमी छात्रो को विदेशो मे भी भेजने की व्यवस्था करनी चाहिए। सामग्री का सकलन, उनके उपयोग की विधि का ज्ञान और अभीप्ट दिशा मे उसका विनियोजन बहुत ही महत्वपूर्ण काय है। हिन्दी मे अभी उनका श्रीगणेश ही हुआ है। मुझे पूण विश्वास है कि शीघ्र ही हमारे उत्साही युवक इस महत्त्वपूण काय को ऊँचे स्तर पर ले आएँगे। गीता मे भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'नहि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिहविद्यते'—ससार मे ज्ञान के समान पवित्र वस्तु कुछ भी नही है। शोध कर्त्ता इसी ज्ञान का उपासक है। इस पवित्र वस्तु की साधना के लिये निचली श्रेणी के स्वाथ का पूण रूप से वजन होना चाहिए। तभी हम अपनी वाछित सिद्धि प्राप्त कर सकते है।

डा० माताप्रसाद गुप्त

पाठानुसंधान

(१) उद्देश्य, विस्तार और आवश्यकता

पाठानुसधान का उद्देश्य किसी ऐसी रचना का पाठ निर्धारण हुआ करता है जिसका उसके लेखक द्वारा प्रमाणीकृत पाठ उपलब्ध नही होता है। जिन रचनाओ के ऐसे मुद्रित सस्करण उपलब्ध होते हैं जो लेखक की देख-रेख मे प्रकाशित होते हैं, अथवा जिन प्राचीन रचनाओ की लेखक को हस्तलिखित अथवा उसके द्वारा सशोधित प्रतियाँ या प्रतिलिपियाँ प्राप्त होती हैं उनके सम्बन्ध मे पाठानुसधान की आवश्यकता नही होती है। अत प्राय ऐसी रचनाओ के सम्बन्ध मे ही पाठानुसधान की आवश्यकता होती है जो मुद्रण युग के पूर्व की हो, अथवा यदि मुद्रण युग की हो तो अनधिकृत रूप से मुद्रित हुई हो। हिन्दी के प्राचीन साहित्य के सम्बन्ध मे इस विज्ञान की उपयोगिता प्रकट है। हमारा समस्त प्राचीन साहित्य हस्तलिखित प्रतियो मे उपलब्ध है, जिनमे से बिरली ऐसी होगी जो स्वत लेखक के हाथ की लिखी अथवा उसके द्वारा सशोधित अथवा प्रमाणीकृत हो, फिर जिन रचनाओ की एक से अधिक प्रतियाँ मिलती है, उनका पाठ भी विभिन्न प्रतियो में परस्पर किसी न किसी परिमाण मे भिन्न हुआ करता है, ऐसी दशा मे यह निश्चय करना आवश्यक हो जाता है कि विभिन्न प्राप्त पाठो मे से अधिकृत पाठ कौन-सा है। पाठ-निर्धारण का यह कार्य बहुत पहले से होता आ रहा है, किन्तु वैज्ञानिक पद्धति पर पाठ-निर्धारण अर्थात् पाठानुसधान का इतिहास बहुत पुराना नही है। हिन्दी मे तो अभी इसका आरम्भ ही हुआ है। और अपने समस्त प्राचीन साहित्य के

सभी प्रकार के अध्ययन विवेचन के लिए इस पद्धति पर कार्य होने की जो आवश्यकता है, उसे बताना अनावश्यक होगा।

(२) विषय-विभाजन

इसे प्राय चार विभागो मे विभाजित किया जाता रहा है। सामग्री सकलन (Hueristics), पाठ-चयन (Recension), पाठ सुधार (Emendation) तथा उच्चतर आलोचना (Higher Criticism)। समस्त प्राप्त पाठ सामग्री का उपयोग के लिए एकत्रित किया जाना सामग्री-सकलन है। रचना के विभिन्न प्राप्त पाठो की जाँच करके उनमे से अधिकृत पाठ को ग्रहण करना पाठ चयन है। प्राप्त पाठो मे से जब एक भी अधिकृत प्रमाणित न होता हो, तब ऐसे पाठ की कल्पना करना जो अधिकृत हो सकता हो, पाठ-सुधार है। रचना के मूलाधारो की खोज और लेखक ने किस प्रकार उनका उपयोग किया है इसका विवेचन उच्चतर आलोचना है। किंतु अतिम पाठानुसधान का वस्तुत उतना अनिवाय अग नही है जितने अन्य तीन है, वह उसमे सहायक भी हो सकता है।

(३) सामग्री के प्रकार और उनकी सापेक्षिक उपयोगिता

सामग्री दो प्रकार की मानी गई है मुख्य और सहायक। जो सामग्री कृति के पाठ को कृति के रूप मे ही प्रस्तुत करती है, वह मुख्य सामग्री है। इसके अन्तगत कृति की प्रतियाँ आती हैं। ये प्रतियाँ कई प्रकार की होती है। वे प्रतियाँ जो लेखक के हाथ की लिखी, अथवा किसी अन्य के द्वारा लिखी किन्तु उसके द्वारा सशोधित अथवा प्रमाणीकृत होती है, स्वहस्त लेख कहलाती हैं। प्रकट है कि ऐसी प्रतियाँ उपलब्ध होने पर पाठानुसधान की अपेक्षा नही रह जाती है। इसके अनन्तर सबसे अधिक महत्त्व की प्रतियाँ वे होती है जो इनकी प्रतिलिपियाँ होती हैं और प्रथम प्रतिलिपियाँ कहलाती हैं। फिर उनके अनन्तर प्रतिलिपियो की प्रतिलिपियाँ होती है जो विभिन्न महत्त्व की हो सकती है। सामान्यत जो प्रतियाँ जितनी ही प्राचीन होती है उन्हे उतना ही अधिक महत्त्व दिया जाता है, क्योकि वे मूल के उतनी ही अधिक निकट की हो सकती हैं किन्तु यह आवश्यक नही है। हो सकता है एक बहुत बाद की तिथि की प्रतिलिपि मूल प्रति अथवा उसकी प्रथम प्रतिलिपि से की हुई प्रतिलिपि हो और शेष उपलब्ध प्रतियाँ जो तिथि मे उसके पूर्व की हो मूल की कई पीढियो के बाद आती हो। इसलिए इस सम्बन्ध मे आवश्यक यह जानना हुआ करता है कि कोई प्रति मूल से कितनी पीढ़ियाँ नीचे आती है।

यह अवश्य है कि एक ही प्रतिलिपि-परम्परा की प्रतियो मे जो पूर्वापर क्रम होगा, उसके अनुसार उस परम्परा की प्रतियो का भी महत्त्व होगा। जो पाठ-सामग्री रचना की प्रतियो के रूप मे न प्राप्त होकर, उसकी टीका, सन्दर्भ-ग्रन्थ, अनुवाद, विवेचन, उद्धरण आदि के रूप मे प्राप्त होती है, वह सहायक सामग्री कहलाती है। यह सामग्री तभी विशेष महत्त्व की प्रमाणित होती है जब कि इससे किसी ऐसी शाखा का पाठ मिलता है जिसकी मुख्य सामग्री अप्राप्य होती है, अथवा जब कि मुख्य सामग्री त्रुटित हो और उन अशो मे यह सामग्री उपलब्ध होती है।

(४) सामग्री की बहिरग परीक्षा

प्रत्येक पाठ-सामग्री की परीक्षा आवश्यक होती है। यह परीक्षा दो प्रकार की होती है बहिरग और अतरग। किसी भी पाठ-सामग्री के सम्बन्ध मे यह देखना कि उसके लिपिकाल, लिपिकार, लिपिप्रयोजन आदि के सम्बन्ध मे उसमे जो कुछ कहा या लिखा हुआ है, वह कहाँ तक विश्वसनीय है, अथवा यदि उसमे इस प्रकार का कोई उल्लेख नही है फिर भी इन विषयो पर उसके सम्बन्ध मे कोई प्रसिद्धि रही है, तो वह कहा तक मान्य है, यह प्रति की बहिरग परीक्षा है। प्राय प्रतियो के अत मे इस प्रकार के उल्लेख रहते हैं जो पुष्पिका के उल्लेख कहलाते है। उदाहरण के लिए सोरो (एटा) मे 'रामचरितमानस' की दो प्रतियाँ है, जिनमे से एक बाल तथा दूसरी अरण्य काड की है। बालकाड की प्रति की पुष्पिका इस प्रकार है —

सवत् १६४३ शाके १५०८ वासी नन्ददास पुत्र कृष्नदास हेत लिखी रघुनाथदास ने कासीपुरी मे।

अरण्य काड की प्रति की पुष्पिका इस प्रकार है —

श्री तुलसीदास गुरु की आग्या सो उनके भ्राता सुत क्रष्नदास सोरो छेत्र निवासी हेत लिषित लछिमनदास कासी जी मध्ये सवत् १६४३ आषाढ सुद्ध ४ शुक्रे इति।

इन प्रतियो पर कुछ सशोधन भी किए हुए है, जिनके सबध मे यह कहा गया है कि वे तुलसीदास जी के द्वारा किए हुए है। उदाहरण के लिए अरण्य-काड की प्रति मे नारद ने राम से काड के अन्त मे जो वर-याचना की है, उसप्रसग का एक चरण प्रति मे लिखने से रह गया था, इसे हाशिए मे इस प्रकारलिखा गया है—

अहे सदा अघ खग गन बधिका।

प्रकट है कि यदि उपर्युक्त पुष्पिकाओ मे जो उल्लेख आते हैं वे प्रामाणिक है, तो ये प्रतियाँ तुलसीदास की स्वहस्तलेख होगी और फिर मानस के दो काडो

के सम्बन्ध मे पाठानुमधान की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। इसलिए इन पुष्पिकाओ की जाँच आवश्यक है। इनकी बहिरग परीक्षा की दृष्टि से पहली बात जो ध्यान देने की है बालकाड की प्रति की पुष्पिका की लिखावट शेष प्रति की लिखावट से मेल नही खाती है, और पुष्पिका की पूरी अतिम पक्ति पर जिसमे उपर्युक्त उल्लेख का अधिकाश आता है स्याही फेरी हुई है, जिससे अक्षरो का वास्तविक आकार-प्रकार सुरक्षित नही रह गया है, और फिर इसके बाद भी पूरी पुष्पिका पर गेरू घिसा गया है। इसी सबध मे दूसरी बात जो दर्शनीय है, यह है कि १६४३ की जो तिथि लिखी गई है, उसमे ६ तथा ४ के अको के बीच इतना फासला छूटा है कि यदि स्वाभाविक रीति से लिखा गया होता तो आसानी से एक अक और आता। फिर शब्द 'शाके' और १५०८ के बीच मे इतनी जगह छूटी हुई है जितने मे उसके ऊपर की पक्ति मे ही दो अक्षर आए हैं और इस स्थान पर कागज़ जलकर निकल गया है फिर भी कोई अक्षर क्षत विक्षत नही हुआ है, जिससे यह नितान्त स्पष्ट है कि यह पुष्पिका उस समय लिखी गई जब कागज वहाँ पर जलकर निकल गया था, और यह उस समय की लिखी हुई नही है जब प्रति लिखी गई थी, और न उस व्यक्ति की लिखी हुई है जिसने पूरी प्रति लिखी थी।

अरण्य काड की पुष्पिका की भी कुछ यही दशा है। उसकी लिखावट भी शेष समस्त प्रति की लिखावट से भिन्न है, उसकी तिथि १६४३ के १६४ इस प्रकार लिखे हुए है कि वे लबाई-चौडाई मे पुष्पिका के ही अन्य अको और अक्षरो से ड्योढे तथा मोटाई मे दूने हो गए है, फिर इस वर्ष मे मल मास अथवा अधिक मास लगा नही था, इसलिए 'असाढ सुद्ध' अर्थहीन हो जाता है।

फलत यह स्पष्ट हो जाता है कि बहिरग परीक्षा मे ये दोनो प्रतियाँ खरी नही उतरती हैं, और इनकी पुष्पिकाओ के आधार पर इन्हे तद्वत् नही स्वीकार किया जा सकता है।

(५) सामग्री की अतरग परीक्षा

पाठ-सामग्री के पाठ की सहायता से यह परखना कि उनकी पुष्पिकाओ मे जो उल्लेख आते हैं अथवा उनके सबध मे जो प्रसिद्धियाँ है वे कहाँ तक ठीक हैं, उनकी अतरग परीक्षा कहलाती है। उदाहरण के लिए 'रामचरितमानस' की सोरो की जिन दो प्रतियो का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनको यदि इस दृष्टि से देखा जाये कि वे कहाँ तक १६४३ का पाठ प्रस्तुत करती हैं, वे क्या वास्तव मे नददास के पुत्र कृष्णदास के लिए लिखी हुई हो सकती हैं, वे क्या काशी का पाठ प्रस्तुत करती हैं, वे क्या तुलसीदास की आज्ञा से उनके किसी

शिष्य द्वारा (और इसीलिए उनकी अपनी प्रति से) उतारी गई हो सकती हैं, और क्या उनपर किए हुए सशोधन स्वय मानस-कार तुलसीदास के हो सकते है, तो यह परीक्षा उनकी अतरग परीक्षा होगी।

उपर्युक्त बालकाड की प्रति के अन्त मे निम्नलिखित तीन छद—दो सोरठे तथा एक दोहा—आते है

(१) **बालचरित सतियाउ बरने तुलसीदास बुध।**
(कहे) सुने सचु पाव परम पुनीत विचित्र अति ।।

(२) **भद्रपुरी सुग्राम अति निमल सुष सिवपुरी।**
जहॉ देहु बिस्राम सो महिमा बरनिय कहा ।।

(३) **कहै सुन समुझ जन सफल सो प्रभु गुन गान।**
सीतापति रघुकुल तिलक सदा करहिं कल्यान ।।

बालकाड की सबसे प्राचीन प्रतियाँ स० १६६१, १७०४, १७२१ तथा १७६२ की हैं। किन्तु इनमे से किसी मे भी ये छद नही मिलते है जिससे यह मानना कठिन हो जाता है कि स० १६४३ तक कवि के द्वारा ये छद बालकाड मे रखे गए थे। कृष्णदास के सबध मे कहा गया है कि वे एक अच्छे विद्वान थे और कविता भी करते थे। किन्तु इस प्रति का पाठ, सशोधन के अनतर भी, बहुत अशुद्ध है। छदो के प्राय हर दूसरे-तीसरे चरण मे शब्द या शब्दाश छूटे हुए है। प्रति के केवल अतिम पृष्ठ पर ही काड की जो अतिम हरिगीतिका है, उसका अन्तिम चरण नही है, उसके पूव की जो अर्द्धाली है, उसका एक चरण नही है, होना चाहिए 'जीवन', लिखा गया है 'जीवन्ह', होना चाहिए 'जीवन पावन' और लिखा हुआ है 'पावन जीवन्ह', होना चाहिए था 'ब्याह' और लिखा गया है 'बाह', होना चाहिए था 'बिबाह' और लिखा हुआ है 'बिबा'। पडित और कवि कृष्णदास के लिए इस इस प्रकार की प्रतिलिपि की गई होगी, यह अत मान्य नही हो सकता है। यह प्रति काशी का भी पाठ नही प्रस्तुत करती है, यह इससे प्रकट है कि काशी की लिखी जो प्राचीन प्रतिया मिली है, उनमे उपयुक्त तीन मे से एक भी छद नही मिलता है। यह प्रतिलिपि तुलसीदास की आज्ञा से उनके किसी शिष्य द्वारा (और उनकी अपनी प्रति से) की हुई भी नही हो सकती है। पडित और कवि कृष्णदास को तुलसीदास अपनी सवश्रेष्ठ कृति की ऐसी प्रतिलिपि भेट कर सकते थे, इसकी कल्पना नही की जा सकती है। प्रति सशोधित है, फिर भी उसके पाठ की यह दशा है, इसलिए यह भी प्रमाणित है कि सशोधक तुलसीदास नही थे। यहॉ तक हुई बालकाड की उपयुक्त प्रति की बात। अरण्य काड की प्रति की भी यही दशा है। ऐसी हालत मे इन

प्रतियो को इनकी पुष्पिका के अनुरूप प्रामाणिक मानना किसी भी विचारशील व्यक्ति के लिए सभव नही है ।

(६) पाठ-विकृतियाँ और उनके प्रकार

प्राचीन रचनाओ के पाठ हमे प्रतिलिपियो के द्वारा प्राप्त होते है, और सभी प्रतिलिपिकारो मे समान रूप से न पूरी ईमानदारी होती है, और न पूरी योग्यता, इसलिए प्रतिलिपि-परपरा मे कृति का पाठ उत्तरोत्तर अधिकाधिक विकृत होता जाता है । ये विकृतियाँ अनेकानेक प्रकार की होती है किन्तु इन्हे मुख्यत दो वर्गों मे रक्खा जा सकता है इच्छित और अनिच्छित । इच्छित विकृतिया वे होती है जो प्रतिलिपिकारो के द्वारा रचना के पाठ मे जान बूझकर उपस्थित की जाती है । उदाहरणाथ, रचनाओ के पाठ मे उनको और अधिक पूर्ण, सगत, काव्योचित अथवा 'शुद्ध' बनाने के लिए जो परिवतन किए जाते हैं वे भी इसी वग के अन्तगत आते है और प्रक्षेप कहलाते है। इसी प्रकार पाठ मे जो विकृतियाँ प्रतिलिपिकारो की अयोग्यता, असावधानी, या अन्य कारणो से बिना चाहे हो जाती हैं, वे अनिच्छित विकृतिया कहलाती है । उदाहरणार्थ पत्रो, पक्तियो, शब्दो, मात्राओ आदि का छूट जाना, उनका क्रम या स्थान बदल जाना, स्मृति-भ्रम से एक शब्द या चरण के स्थान पर दूसरा शब्द या चरण लिख उठना, अपनी जानकारी के लिए आदश प्रति के हाशिए मे उसके स्वामी के द्वारा लिखी हुई टिप्पणियो का मूल मे सम्मिलित कर लिया जाना ।

(६) पाठ-सबध और उनके प्रकार

किसी रचना की विभिन्न प्रतियाँ मूल प्रति से और परस्पर जिस प्रकार सबधित होती है उसका पता लगाना पाठानुसधान का एक सर्वप्रमुख कार्य है । पुराने ढग के पाठालोचन और आधुनिक पाठानुसधान के बीच जो सबसे बडा अन्तर है वह यही है कि पाठानुसधानकर्त्ता विभिन्न प्राप्त प्रतियो के बीच सबध-निर्धारण का प्रयास कर रचना की पाठ-परम्परा का इतिहास पुनर्निर्मित करता है, और फिर वह इसके द्वारा रचना के प्राचीनतम रूप तक पहुँचने का प्रयास करता है । यह सबध दो प्रकार का होता है मूल तथा गौण । रचना के मूल रूप के जो तत्त्व विभिन्न प्रतियो मे सुरक्षित रहते हैं, उनके आधार पर उनका मूल सबध स्थापित होता है, और प्रतिलिपि-क्रिया मे उसके पाठ मे जो तत्त्व विकृतियो के रूप उपस्थित होते जाते है, उनके आधार पर प्रतियो का गौण सबध स्थापित होता है । यह बात एक रेखा चित्र द्वारा इस प्रकार उदाहृत की जा सकती है —
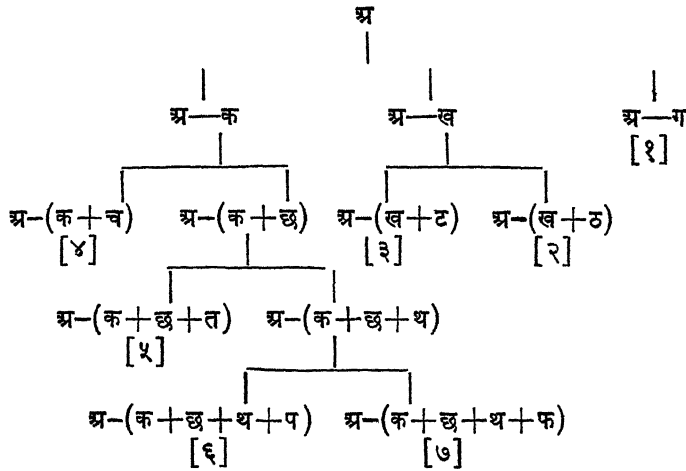
कल्पना कीजिए कि मूल पाठ 'अ' था। उससे तीन प्रथम प्रतिलिपियाँ हुईं। एक मे कुछ विकृतिया आ गईं, जिन्हे 'क' कहा जा सकता है, उसी प्रकार दूसरी मे 'ख' विकृतियाँ आ गईं, और तीसरी मे 'ग' विकृतियाँ आ गईं। अब ये तीनो प्रतियाँ केवल मूल सबध से सम्बन्धित है, क्योकि तीनो मे जो तत्त्व समान रूप से पाए जाते हैं वे मूल 'अ' के है, और जो विकृति तत्त्व या गौण तत्त्व पाए जाते हैं वे तीनो के अपने और अलग-अलग 'क', 'ख' और 'ग' हैं। अब कल्पना कीजिए कि अ—क और अ—ख की दो-दो प्रतिलिपियाँ हुईं, और इन प्रतिलिपियो मे नवीन विकृति तत्त्व आये। अ—क की एक प्रतिलिपि मे 'च' विकृतियाँ आ गईं तो दूसरी मे 'छ, फिर भी इनमे विकृति के कुछ तत्त्व समान रूप से मिलते है, और वे है 'क', इसलिए ये प्रतियाँ मूल से 'अ' के शेषाश के द्वारा तथा अ—क से और परस्पर अ—क के विकृति-तत्त्वो के द्वारा सबधित है। इसी प्रकार रेखा-चित्र की और भी प्रतियो के बारे मे समझा जा सकता है।

(८) सबध-निर्धारण प्रणाली

प्रकट है कि विभिन्न प्रतियो मे प्राप्त रचना के मूल और गौण तत्त्वो के आधार पर यदि उनका उपर्युक्त प्रकार से मूल तथा गौण सम्बन्ध स्थापित किया जा सके, तो मूल पाठ तक पहुँचा जा सकता है, और प्राय उतनी ही निश्चयात्मकता के साथ पहुँचा जा सकता है जितनी निश्चयात्मकता के साथ उपर्युक्त सम्बन्ध निर्धारित किया जा सके। किन्तु यह सबध-निर्धारण कितना दुर्गम कार्य है, इसकी कल्पना आसानी से की जा सकती है। यह किस

अथवा रचयिता के प्रमाणित विचारो के सवथा प्रतिकूल जाता है, तो इस प्रकार का पाठ ग्राह्य नही हो सकता है। इसी प्रकार कल्पना कीजिए कोई ऐसा पाठ किसी स्थल पर दिया जा सकता है जो लेखक की विचार-धारा और अभिव्यक्ति-प्रणाली आदि की दृष्टि से ठीक लगता है, किन्तु पाठ-सामग्री मे नही मिलता है, और न प्राप्त पाठ निश्चित रूप से किसी प्रकार भी उससे बिगडकर ही बने माने जा सकते है। ऐसी दशा मे यह अन्यथा उत्कृष्ट पाठ भी ग्राह्य नही हो सकता है।

(१०) पाठ चयन

प्राप्त विभिन्न पाठो मे से सभव मूल-पाठ को चुन लेना पाठ-चयन कहलाता है। प्रतियो के पाठ-सबध-निर्धारण के अनन्तर अनुसगतियो की सहायता से पाठ-चयन काफी हद तक सुगम हो जाता है और निरापद भी। कल्पना कीजिए कि किसी रचना के पाठ की कई शाखाएँ निर्धारित हुईं—अर्थात् उसके कई ऐसे पाठ मिले जो कि मूल सबध से ही सबधित है। गौण या विकृति-सबध से नही, सबधित हैं। ऐसी दशा मे जो तत्त्व किन्ही भी दो शाखाओ मे समान रूप से मिलेगे वे मूल के होगे। यदि कल्पना कीजिए दो ऐसे विभिन्न पाठ मिलते हो जो दो-दो या अधिक शाखाओ मे पाए जाते हो, तो यह मानना पडेगा कि या तो सबध-निर्धारण ठीक ढग से नहीं हुआ है, और या तो—यदि दोनो पाठ दोनो प्रकार की अनुसगतियो से समर्थित हैं—वे रचना के लेखक-कृत दो आगे-पीछे के पाठो को प्रस्तुत करते हैं। इस पिछले तथ्य का विश्लेषण पाठानु-सधान का एक बहुत ही दुगम विषय है, और यहाँ पर उसकी प्रणाली का विवेचन सभव न होगा। अत कल्पना कीजिए कि पाठ-सबध-निर्धारण के अनन्तर पाठो की केवल दो शाखाएँ मिलती हैं, तो जहाँ पर दोनो मे अभिन्नता होगी, वहाँ पर तो उक्त अभिन्न अश को मूल का मान लेना होगा। किन्तु जहाँ पर पाठ-भेद होगा वहाँ पर कठिनाई होगी। यदि दोनो पाठो मे से एक निश्चित रूप से विकृत प्रमाणित होगा और दूसरा अविकृत तो अविकृत को ग्रहण करना होगा। किंतु यदि दोनो पाठ समान रूप से अविकृत लगते होगे तो दोनो शाखाओ की आपेक्षिक विश्वसनीयता के अनुसार अधिक विश्वसनीय पाठ वाली शाखा के पाठ को ग्रहण करना होगा। परन्तु यदि ऐसे पाठ-भेदो का बाहुल्य हो जो दोनो मे समान रूप से अविकृत लगते हो, तो इस बात का निश्चय करना होगा कि दोनो पाठ लेखक द्वारा ही प्रकाशित रचना के दो आगे-पीछे के पाठ तो नही प्रस्तुत कर रहे हैं?

(११) पाठ-सुधार

सामान्यत और अधिकाश मे पाठ चयन से रचना का सतोष-जनक मूल या प्राचीनतम पाठ उपलब्ध हो जाता है। किन्तु कभी-कभी ऐसी स्थिति सामने आती है कि प्राप्त पाठो मे से कोई भी दोनो अनुसगतियो द्वारा समर्थित नही होता है। ऐसी दशा मे ऐसे पाठ की कल्पना करनी पडती हे जिससे बिगड कर प्राप्त पाठ अथवा उनमे से किसी के बने होने की सभावना हो और जो रचना की आतरिक प्रकृति से सवथा अनुमोदित हो। इस प्रकार की पाठ-कल्पना को पाठ-सुधार कहते हैं। पाठ सुधार एक बडे उत्तरदायित्व का काय है, और इसकी शरण तभी लेनी चाहिए जब पाठ-चयन से किसी प्रकार भी ऐसा पाठ न मिल रहा हो जो आतरिक अनुसगतियुक्त हो। इस काय के लिए पाठानुसधानकर्त्ता को रचयिता की ही समस्त रचनाओ का नही, उसकी काव्य-प्रणाली, उसके युग और उसकी विचार-धारा की अन्य रचनाओ का भी सम्यक् अध्ययन होना चाहिए, जिन युगो और जिन क्षेत्रो मे विवेच्य रचना का प्रचार रहा है, उनकी लिपि और लेखन-प्रणाली का ज्ञान होना चाहिए, मूल रचना और प्राप्त अतिम प्रतिलिपि की विधियो के बीच जिन क्षेत्रो मे विवेच्य रचना का प्रचार रहा है, उन क्षेत्रो मे उसकी और उन क्षेत्रो की भाषा ने कितने करवटे बदली हैं—उसके लिए इन सब बातो का भी ज्ञान अपेक्षित है। रचना के मूलाधारो और लेखक द्वारा उनके उपयोग के प्रकारादि के अध्ययन भी, जो उच्चतर आलोचना के अन्तगत माने जाते रहे है, इस काय मे सहायक हो सकते है।

(१२) परिणाम की सत्यता

पाठानुसधान अतत सत्य का अनुसधान ही है, जिसका परिणाम प्रत्येक अनुसधान की भाँति सत्य की उपलब्धि भी हो सकता है। जितनी ही ईमानदारी, योग्यता और अनुभव के साथ निर्धारित विधियो का अनुसरण करते हुए पाठानुसधान का काय किया जावेगा, और आवश्यक पाठ सामग्री जितनी पूर्णता के साथ उपलब्ध होगी, परिणाम मे उतनी ही अधिक सत्यता की भी आशा की जा सकती है। फिर भी एक बात निश्चित है प्रत्येक अनुसधान हमे सत्यान्वेषण और सत्य-स्थापन की दिशा मे आगे बढाता है, और पाठानुसधान के सबध मे भी यह बात प्रमाणित हो चुकी है।

डॉ० विश्वनाथ प्रसाद

भाषावैज्ञानिक अनुसन्धान

"वाग्वै सम्राट् परम ब्रह्म"—यह उपनिषद् का वाक्य है। यहा शब्द को ब्रह्म कहा गया है। शब्द या वाक्य की उपासना भी ब्रह्म की ही उपासना है। जब हम अपने यहा के प्राचीन शिक्षा, प्रातिशाख्य, व्याकरण काव्यशास्त्रादि ग्रथो को देखते है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह उक्ति कोई भावनात्मक उद्गार मात्र नही है वरन् शताब्दियो के अध्ययन, अनुशीलन और अनुसधान का परिणाम है। एक महान् प्रयोजन को सामने रखकर विभिन्न दृष्टियो से हमारे यहाँ के प्राचीन ऋषियो और आचार्यो ने भाषा तत्त्व का अध्ययन किया था। "कानि पुन शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि' इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है "रक्षोहागमलघ्वसदेह प्रयोजनम्" अर्थात् ज्ञान की रक्षा और सदेहो का निराकरण करके अर्थ की उपलब्धि के निमित्त शब्दो का अध्ययन किया जाता था। अभी हाल मे मैंने अमरीका के एक भाषाविज्ञानी सिमूर चैटमैन का एक निबध पढा था, जिसमे भाषाविज्ञान, काव्यशास्त्र तथा साहित्यिक व्याख्या का सम्बन्ध निरूपित किया गया है। इस विषय का सागोपाग विवेचन अपने यहाँ के प्राचीन ग्रथो मे हुआ है। हर्ष है कि आज के नवीन भाषाविज्ञान के क्षेत्र मे अब इन प्राचीन तथ्यो की ओर ध्यान जाने लगा है। पाणिनि और पतजलि के ग्रथ आज भी वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के लिए सर्वोत्तम आदर्श हैं। रूप-विन्यास तथा आकृतिमूलक विश्लेषण को तथावत् विकसित करने के लिए अनुसधान के क्षेत्र मे उनके तथ्यो और प्रणालियो के गम्भीर अध्ययन और अनुशीलन की आवश्यकता है।

यह केवल सयोग की बात नही है कि आधुनिक अर्थो मे भाषाविज्ञान का

(११) पाठ-सुधार

सामान्यत और अधिकाश मे पाठ चयन से रचना का सतोष-जनक मूल या प्राचीनतम पाठ उपलब्ध हो जाता है। किन्तु कभी-कभी ऐसी स्थिति सामने आती है कि प्राप्त पाठो मे से कोई भी दोनो अनुसगतियो द्वारा समर्थित नही होता है। ऐसी दशा मे ऐसे पाठ की कल्पना करनी पडती हे जिससे बिगड कर प्राप्त पाठ अथवा उनमे से किसी के बने होने की सभावना हो और जो रचना की आतरिक प्रकृति से सर्वथा अनुमोदित हो। इस प्रकार की पाठ कल्पना को पाठ-सुधार कहते हैं। पाठ सुधार एक बडे उत्तरदायित्व का काय है, और इसकी शरण तभी लेनी चाहिए जब पाठ-चयन से किसी प्रकार भी ऐसा पाठ न मिल रहा हो जो आतरिक अनुसगतियुक्त हो। इस काय के लिए पाठानुसधानकर्त्ता को रचयिता की ही समस्त रचनाओ का नही, उसकी काव्य-प्रणाली, उसके युग और उसकी विचार धारा की अन्य रचनाओ का भी सम्यक् अध्ययन होना चाहिए, जिन युगो और जिन क्षेत्रो मे विवेच्य रचना का प्रचार रहा है, उनकी लिपि और लेखन-प्रणाली का ज्ञान होना चाहिए, मूल रचना और प्राप्त अतिम प्रतिलिपि की विधियो के बीच जिन क्षेत्रो मे विवेच्य रचना का प्रचार रहा है, उन क्षेत्रो मे उसकी और उन क्षेत्रो की भाषा ने कितने करवटे बदली है—उसके लिए इन सब बातो का भी ज्ञान अपेक्षित है। रचना के मूलाधारो और लेखक द्वारा उनके उपयोग के प्रकारादि के अध्ययन भी, जो उच्चतर आलोचना के अन्तगत माने जाते रहे है, इस काय मे सहायक हो सकते है।

(१२) परिणाम की सत्यता

पाठानुसधान अतत सत्य का अनुसधान ही है, जिसका परिणाम प्रत्येक अनुसधान की भाँति सत्य की उपलब्धि भी हो सकता है। जितनी ही ईमानदारी, योग्यता और अनुभव के साथ निर्धारित विधियो का अनुसरण करते हुए पाठानुसधान का काय किया जावेगा, और आवश्यक पाठ सामग्री जितनी पूर्णता के साथ उपलब्ध होगी, परिणाम मे उतनी ही अधिक सत्यता की भी आशा की जा सकती है। फिर भी एक बात निश्चित है प्रत्येक अनुसधान हमे सत्यान्वेषण और सत्य स्थापन की दिशा मे आगे बढ़ाता है, और पाठानुसधान के सबध मे भी यह बात प्रमाणित हो चुकी है।

प्रकार किया जाता है, इसे उपर्युक्त उदाहरण के द्वारा इस प्रकार बताया जा सकता है —

कल्पना कीजिए कि उपयुक्त रेखाचित्र की प्रतियो मे से आपको केवल [१] से लेकर [७] तक प्राप्त हैं। आप पाठ-विश्लेषण करने पर देखेगे कि यद्यपि [१] मे विकृतिया है किन्तु वे अन्य किसी प्रति मे नही मिलती है, इसलिए उसे आपको एक स्वतन्त्र स्थान देना पडेगा। फिर आप देखेगे कि [२] और [३] मे भी विकृतियाँ है जो अन्यो मे नही पाई जाती है, किन्तु जिनमे मे कुछ दोनो मे परस्पर पाई जाती है, इसलिए यह मानना पडेगा कि वे एक स्वतन्त्र शाखा की है और कही न कही किसी ऐसे सामान्य आदश अर्थात् पूवज से निकली हुई है जो मूल के नीचे की किसी पीढी मे आता था, और उस आदश या पूवज मे अ—ख तत्त्व रहे होगे जो [२] तथा [३] को उसी से प्राप्त हुए होगे। अब आप देखेगे कि [६] और [७] मे विकृति के ऐसे तत्त्व अनेक हे जो दोनो मे समान रूप से पाए जाते है, और इसलिए आप यह मान लेगे कि ये किसी ऐसे सामान्य आदश या पूवज से निकली हुई है जो मूल से नीचे का रहा होगा। यदि आप [५] से इन दोनो का मिलान करेगे, तो आप देखेगे कि यद्यपि [५] के साथ इनका उतना विकृति साम्य नही है जितना आपस मे है, फिर भी है अवश्य, अत आप यह मान लेगे कि [५] भी उसी आदश या पूवज की सन्तान होगी जिसकी [६] और [७] का आदश या पूवज प्रति रही है। और आगे बढने पर जब आप देखें कि [४] मे भी ऐसे कुछ विकृति-तत्त्व मिलते है जो [५], [६] और [७] मे समान रूप से पाए जाते है, तो आप यह मान लेगे कि [४] भी उसी आदश या पूवज की सतान है जो [५], [६] और [७] का सामान्य आदर्श या पूवज था। इस प्रकार आप प्राप्त सातो प्रतियो का सबध-निर्धारण कर लेगे।

(९) पाठानुसगति के प्रकार

निर्धारित प्रत्येक पाठ को दो प्रकार की अनुसगतियो की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए बाह्य और आतरिक। बाह्य अनुसगति का सबध रचना की सपादन या पाठ-सामग्री से होता है, और आतरिक अनुसगति का सबध रचना की प्रकृति और उसके आकार-प्रकार से होता है। रचना का वही पाठ ग्राह्य हो सकता है जो उसकी पाठ-सामग्री द्वारा प्रस्तावित और रचना की अपनी प्रकृति द्वारा अनुमोदित हो। मान लीजिए यदि ऐसा पाठ ग्रहण किया जाता है जो यद्यपि पाठ-सामग्री में मिलता है किन्तु जो निश्चित रूप से अथहीन है

अथवा रचयिता के प्रमाणित बिचारो के सर्वथा प्रतिकूल जाता है, तो इस प्रकार का पाठ ग्राह्य नही हो सकता है। इसी प्रकार कल्पना कीजिए कोई ऐसा पाठ किसी स्थल पर दिया जा सकता है जो लेखक की विचार-धारा और अभिव्यक्ति-प्रणाली आदि की दृष्टि से ठीक लगता है, किन्तु पाठ-सामग्री मे नही मिलता है, और न प्राप्त पाठ निश्चित रूप से किसी प्रकार भी उससे बिगडकर ही बने माने जा सकते हैं। ऐसी दशा मे यह अन्यथा उत्कृष्ट पाठ भी ग्राह्य नही हो सकता है।

(१०) पाठ चयन

प्राप्त विभिन्न पाठो मे से सभव मूल-पाठ को चुन लेना पाठ-चयन कहलाता है। प्रतियो के पाठ-सबध-निर्धारण के अनन्तर अनुसगतियो की सहायता से पाठ-चयन काफी हद तक सुगम हो जाता है और निरापद भी। कल्पना कीजिए कि किसी रचना के पाठ की कई शाखाएँ निर्धारित हुईं—अर्थात् उसके कई ऐसे पाठ मिले जो कि मूल सबध से ही सबधित है। गौण या विकृति सबध से नही, सबधित हैं। ऐसी दशा मे जो तत्त्व किन्ही भी दो शाखाओ मे समान रूप से मिलेंगे वे मूल के होगे। यदि कल्पना कीजिए दो ऐसे विभिन्न पाठ मिलते हो जो दो-दो या अधिक शाखाओ मे पाए जाते हो, तो यह मानना पडेगा कि या तो सबध-निर्धारण ठीक ढग से नहीं हुआ है, और या तो—यदि दोनो पाठ दोनो प्रकार की अनुसगतियो से समर्थित हैं—वे रचना के लेखक-कृत दो आगे-पीछे के पाठो को प्रस्तुत करते हैं। इस पिछले तथ्य का विश्लेषण पाठानु-सधान का एक बहुत ही दुगम विषय है, और यहाँ पर उसकी प्रणाली का विवेचन सभव न होगा। अत कल्पना कीजिए कि पाठ-सबध-निर्धारण के अनन्तर पाठो की केवल दो शाखाएँ मिलती है, तो जहाँ पर दोनो मे अभिन्नता होगी, वहाँ पर तो उक्त अभिन्न अश को मूल का मान लेना होगा। किन्तु जहाँ पर पाठ-भेद होगा वहाँ पर कठिनाई होगी। यदि दोनो पाठो मे से एक निश्चित रूप से विकृत प्रमाणित होगा और दूसरा अविकृत तो अविकृत को ग्रहण करना होगा। किंतु यदि दोनो पाठ समान रूप से अविकृत लगते होगे तो दोनो शाखाओ की आपेक्षिक विश्वसनीयता के अनुसार अधिक विश्वसनीय पाठ वाली शाखा के पाठ को ग्रहण करना होगा। परन्तु यदि ऐसे पाठ-भेदो का बाहुल्य हो जो दोनो मे समान रूप से अविकृत लगते हो, तो इस बात का निश्चय करना होगा कि दोनो पाठ लेखक द्वारा ही प्रकाशित रचना के दो आगे-पीछे के पाठ तो नही प्रस्तुत कर रहे हैं?

प्रकार किया जाता है, इसे उपर्युक्त उदाहरण के द्वारा इस प्रकार बताया जा सकता है —

कल्पना कीजिए कि उपयु क्त रेखाचित्र की प्रतियो मे से आपको केवल [१] से लेकर [७] तक प्राप्त है। आप पाठ-विश्लेषण करने पर देखेगे कि यद्यपि [१] मे विकृतिया है किन्तु वे अन्य किसी प्रति मे नही मिलती हे, इसलिए उसे आपको एक स्वतन्त्र स्थान देना पडेगा। फिर आप देखेगे कि [२] और [३] मे भी विकृतियाँ है जो अन्यो मे नही पाई जाती है, किन्तु जिनमे मे कुछ दोनो मे परस्पर पाई जाती है, इसलिए यह मानना पडेगा कि वे एक स्वतन्त्र शाखा की है और कही न कही किसी ऐसे सामान्य आदश अर्थात् पूवज से निकली हुई है जो मूल के नीचे की किसी पीढी मे आता था, और उस आदश या पूवज मे अ—ख तत्त्व रहे होगे जो [२] तथा [३] को उसी से प्राप्त हुए होगे। अब आप देखेगे कि [६] और [७] मे विकृति के ऐसे तत्त्व अनेक है जो दोनो मे समान रूप से पाए जाते है, और इसलिए आप यह मान लेगे कि ये किसी ऐसे सामान्य आदश या पूवज से निकली हुई है जो मूल से नीचे का रहा होगा। यदि आप [५] से इन दोनो का मिलान करेंगे, तो आप देखेगे कि यद्यपि [५] के साथ इनका उतना विकृति साम्य नही है जितना आपस मे है, फिर भी है अवश्य, अत आप यह मान लेगे कि [५] भी उसी आदश या पूवज की सन्तान होगी जिसकी [६] और [७] का आदश या पूवज प्रति रही है। और आगे बढने पर जब आप देखे कि [४] मे भी ऐसे कुछ विकृति-तत्त्व मिलते है जो [५], [६] और [७] मे समान रूप से पाए जाते है, तो आप यह मान लेगे कि [४] भी उसी आदश या पूवज की सतान है जो [५], [६] और [७] का सामान्य आदश या पूवज था। इस प्रकार आप प्राप्त सातो प्रतियो का सबध-निर्धारण कर लेगे।

(६) पाठानुसगति के प्रकार

निर्धारित प्रत्येक पाठ को दो प्रकार की अनुसगतियो की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए बाह्य और आतरिक। बाह्य अनुसगति का सबध रचना की सपादन या पाठ-सामग्री से होता है, और आतरिक अनुसगति का सबध रचना की प्रकृति और उसके आकार-प्रकार से होता है। रचना का वही पाठ ग्राह्य हो सकता है जो उसकी पाठ-सामग्री द्वारा प्रस्तावित और रचना की अपनी प्रकृति द्वारा अनुमोदित हो। मान लीजिए यदि ऐसा पाठ ग्रहण किया जाता है जो यद्यपि पाठ-सामग्री में मिलता है किन्तु जो निश्चित रूप से अथहीन है

अथवा रचयिता के प्रमाणित विचारो के सर्वथा प्रतिकूल जाता है, तो इस प्रकार का पाठ ग्राह्य नही हो सकता है। इसी प्रकार कल्पना कीजिए कोई ऐसा पाठ किसी स्थल पर दिया जा सकता है जो लेखक की विचार-धारा और अभिव्यक्ति-प्रणाली आदि की दृष्टि से ठीक लगता है, किन्तु पाठ सामग्री मे नही मिलता है, और न प्राप्त पाठ निश्चित रूप से किसी प्रकार भी उससे बिगडकर ही बने माने जा सकते है। ऐसी दशा मे यह अन्यथा उत्कृष्ट पाठ भी ग्राह्य नही हो सकता है।

(१०) पाठ चयन

प्राप्त विभिन्न पाठो मे से सभव मूल-पाठ को चुन लेना पाठ-चयन कहलाता है। प्रतियो के पाठ सबध-निर्धारण के अनन्तर अनुसगतियो की सहायता से पाठ-चयन काफी हद तक सुगम हो जाता है और निरापद भी। कल्पना कीजिए कि किसी रचना के पाठ की कई शाखाएँ निर्धारित हुईं—अर्थात् उसके कई ऐसे पाठ मिले जो कि मूल सबध से ही सबधित है। गौण या विकृति सबध से नही, सबधित हैं। ऐसी दशा मे जो तत्त्व किन्ही भी दो शाखाओ मे समान रूप से मिलेगे वे मूल के होगे। यदि कल्पना कीजिए दो ऐसे विभिन्न पाठ मिलते हो जो दो-दो या अधिक शाखाओ मे पाए जाते हो, तो यह मानना पडेगा कि या तो सबध-निर्धारण ठीक ढग से नहीं हुआ है, और या तो—यदि दोनो पाठ दोनो प्रकार की अनुसगतियो से समर्थित है—वे रचना के लेखक-कृत दो आगे-पीछे के पाठो को प्रस्तुत करते हैं। इस पिछले तथ्य का विश्लेषण पाठानु-सधान का एक बहुत ही दुगम विषय है, और यहाँ पर उसकी प्रणाली का विवेचन सभव न होगा। अत कल्पना कीजिए कि पाठ-सबध-निर्धारण के अनन्तर पाठो की केवल दो शाखाएँ मिलती हैं, तो जहाँ पर दोनो मे अभिन्नता होगी, वहाँ पर तो उक्त अभिन्न अश को मूल का मान लेना होगा। किन्तु जहाँ पर पाठ-भेद होगा वहाँ पर कठिनाई होगी। यदि दोनो पाठो मे से एक निश्चित रूप से विकृत प्रमाणित होगा और दूसरा अविकृत तो अविकृत को ग्रहण करना होगा। किंतु यदि दोनो पाठ समान रूप से अविकृत लगते होगे तो दोनो शाखाओ की आपेक्षिक विश्वसनीयता के अनुसार अधिक विश्वसनीय पाठ वाली शाखा के पाठ को ग्रहण करना होगा। परन्तु यदि ऐसे पाठ-भेदो का बाहुल्य हो जो दोनो मे समान रूप से अविकृत लगते हो, तो इस बात का निश्चय करना होगा कि दोनो पाठ लेखक द्वारा ही प्रकाशित रचना के दो आगे-पीछे के पाठ तो नही प्रस्तुत कर रहे हैं?

(११) पाठ-सुधार

सामान्यत और अधिकाश मे पाठ चयन से रचना का सतोष-जनक मूल या प्राचीनतम पाठ उपलब्ध हो जाता हे। किन्तु कभी कभी ऐसी स्थिति सामने आती है कि प्राप्त पाठो मे से कोई भी दोनो अनुसगतियो द्वारा समर्थित नही होता है। ऐसी दशा मे ऐसे पाठ की कल्पना करनी पडती हे जिससे बिगड कर प्राप्त पाठ अथवा उनमे से किसी के बने होने की सभावना हो और जो रचना की आतरिक प्रकृति से सवथा अनुमोदित हो। इस प्रकार की पाठ-कल्पना को पाठ-सुधार कहते हैं। पाठ सुधार एक बडे उत्तरदायित्व का काय है, और इसकी शरण तभी लेनी चाहिए जब पाठ चयन से किसी प्रकार भी ऐसा पाठ न मिल रहा हो जो आतरिक अनुसगतियुक्त हो। इस काय के लिए पाठानुसधानकर्त्ता को रचयिता की ही समस्त रचनाओ का नही, उसकी काव्य-प्रणाली, उसके युग और उसकी विचार धारा की अन्य रचनाओ का भी सम्यक् अध्ययन होना चाहिए, जिन युगो और जिन क्षेत्रो मे विवेच्य रचना का प्रचार रहा है, उनकी लिपि और लेखन-प्रणाली का ज्ञान होना चाहिए, मूल रचना और प्राप्त अतिम प्रतिलिपि की विधियो के बीच जिन क्षेत्रो मे विवेच्य रचना का प्रचार रहा है, उन क्षेत्रो मे उसकी और उन क्षेत्रो की भाषा ने कितने करवटे बदली है—उसके लिए इन सब बातो का भी ज्ञान अपेक्षित है। रचना के मूलाधारो और लेखक द्वारा उनके उपयोग के प्रकारादि के अध्ययन भी, जो उच्चतर आलोचना के अन्तर्गत माने जाते रहे है, इस काय मे सहायक हो सकते हैं।

(१२) परिणाम की सत्यता

पाठानुसधान अतत सत्य का अनुसधान ही है, जिसका परिणाम प्रत्येक अनुसधान की भाँति सत्य की उपलब्धि भी हो सकता है। जितनी ही ईमान-दारी, योग्यता और अनुभव के साथ निर्धारित विधियो का अनुसरण करते हुए पाठानुसधान का काय किया जावेगा, और आवश्यक पाठ सामग्री जितनी पूर्णता के साथ उपलब्ध होगी, परिणाम मे उतनी ही अधिक सत्यता की भी आशा की जा सकती है। फिर भी एक बात निश्चित है प्रत्येक अनुसधान हमे सत्यान्वेषण और सत्य स्थापन की दिशा मे आगे बढाता है, और पाठानुसधान के सबध मे भी यह बात प्रमाणित हो चुकी है।

डॉ० विश्वनाथ प्रसाद

भाषावैज्ञानिक अनुसन्धान

"वाग्वै सम्राट् परम ब्रह्म"—यह उपनिषद् का वाक्य है। यहा शब्द को ब्रह्म कहा गया है। शब्द या वाक्य की उपासना भी ब्रह्म की ही उपासना है। जब हम अपने यहा के प्राचीन शिक्षा, प्रातिशाख्य, व्याकरण काव्यशास्त्रादि ग्र थो को देखते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह उक्ति कोई भावनात्मक उद्गार मात्र नही है वरन् शताब्दियो के अध्ययन, अनुशीलन और अनुसधान का परिणाम है। एक महान् प्रयोजन को सामने रखकर विभिन्न दृष्टियो से हमारे यहाँ के प्राचीन ऋषियो और आचार्यो ने भाषा तत्त्व का अध्ययन किया था। "कानि पुन शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि' इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है "रक्षोहागमलघ्वसदेह प्रयोजनम्" अर्थात् ज्ञान की रक्षा और सदेहो का निराकरण करके अर्थ की उपलब्धि के निमित्त शब्दो का अध्ययन किया जाता था। अभी हाल मे मैने अमरीका के एक भाषाविज्ञानी सिमूर चैटमैन का एक निबध पढा था, जिसमे भाषाविज्ञान, काव्यशास्त्र तथा साहित्यिक व्याख्या का सम्बन्ध निरूपित किया गया है। इस विषय का सागोपाग विवेचन अपने यहाँ के प्राचीन ग्र थो मे हुआ है। हर्ष है कि आज के नवीन भाषाविज्ञान के क्षेत्र मे अब इन प्राचीन तथ्यो की ओर ध्यान जाने लगा है। पाणिनि और पतजलि के ग्र थ आज भी वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के लिए सर्वोत्तम आदर्श है। रूप-विन्यास तथा आकृतिमूलक विश्लेषण को तथावत् विकसित करने के लिए अनुसधान के क्षेत्र मे उनके तथ्यो और प्रणालियो के गम्भीर अध्ययन और अनुशीलन की आवश्यकता है।

यह केवल सयोग की बात नही है कि आधुनिक अर्थों मे भाषाविज्ञान का

प्रारभ १८वी शताब्दी मे तब हुआ जब कि सर विलियम जोन्स तथा कोर्दो आदि पाश्चात्य विद्वानो को सस्कृत का पता चला। सस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि प्राचीन भाषाओ के शब्दो तथा व्याकरणिक रूपो की समानताओ से प्रभावित होकर इन विद्वानो ने तत्परता के साथ इनका तुलनात्मक अध्ययन प्रारम्भ किया। १९वी शती मे अध्ययन और अनुसधान की इस परम्परा का और भी अधिक विकास हुआ और इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा फारसी, आर्मीनियन, स्लैवानिक, गाथिक, केल्टिक आदि भाषाओ मे ऐतिहासिक सम्बन्धो की स्थापना हुई। इस प्रकार इस युग का भाषाविज्ञान यदि प्रणाली की दृष्टि से तुलनात्मक था तो विषय की दृष्टि से ऐतिहासिक। फलत तुलनात्मक भाषाविज्ञान और ऐतिहासिक भाषाविज्ञान पर्यायवाची शब्द बन गये। मैक्समूलर, ह्विटनी, ब्रुगमैन आदि ने इस प्रकार के अध्ययन से एक आदि मौलिक भाषा की कल्पना की, जिसे भारत-जमन या भारत-यूरोपीय नाम दिया गया। इसका बडे विस्तार के साथ अध्ययन हुआ। बाद मे इसी आधार पर ससार की अन्य भाषाओ का भी पारिवारिक वर्गीकरण किया गया। पहले लोगो का ध्यान केवल प्राचीन भाषाओ की ओर था, पर बाद मे आधुनिक भाषाओ के सम्बन्ध मे भी विचार किया जाने लगा। आधुनिक भारतीय भाषाओ का अनुसधान करने वाले प्रमुख विद्वानो मे बीम्स, हार्नले तथा ग्रियसन के नाम उल्लेखनीय हैं। दक्षिण भारत की भाषाओ का भी अध्ययन हुआ, पर अपेक्षाकृत कम। द्रविड परिवार की भाषाओ का अध्ययन करने वालो मे काल्डवेल का नाम उल्लेख्य है। ग्रियसन ने पहले-पहल भारतीय भाषाओ का सर्वेक्षण किया जो अपने ढग का अनूठा काय था। इन प्रारम्भिक कार्यों के बाद आधुनिक भाषाओ के अधिक गम्भीर विवेचन भी होने लगे। इस दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य फ्रासीसी विद्वान् यूल ब्लॉख का हुआ, जिन्होने मराठी, भारत-आर्य तथा द्रविड का पाडित्यपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया। सर राल्फ लिली टर्नर का नाम भी इस सम्बन्ध मे कम महत्त्वपूण नही है। उन्होने गुजराती तथा नेपाली डिक्शनरी के रूप मे आय-भाषाओ के शब्दो पर तुलनात्मक काय किया। आजकल वे आयभाषाओ के व्यौत्पत्तिक तुलनात्मक कोश को पूरा करने मे लगे हुए हैं। इसी प्रकार आक्सफोड के श्री बरो तथा अमरीका के एमेनो नामक विद्वान् द्रविड भाषा के व्यौत्पत्तिक तुलनात्मक कोश मे साथ-साथ जुटे हुए हैं। आशा है कि निकट भविष्य ये दोनो कोश हमे उपलब्ध हो सकेंगे। भारतीय विद्वानो मे इस क्षेत्र मे काम करनेवालो मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण नाम डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का है, जिन्होने अपने 'ओरिजिन एड डेवेलपमेंट आव बगाली

लैंग्वेज' मे आधुनिक भारतीय भाषाओ के ऐतिहासिक अध्ययन को ऐसे व्यापक और विस्तृत रूप मे प्रस्तुत कर दिया कि बाद की कुछ विशिष्ट कृतियो को छोडकर—जैसे डा० बाबूराम सक्सेना का 'अवधी भाषा का विकास' अथवा डा० धीरेन्द्र वर्मा का ब्रजभाषा-सम्बन्धी ग्र थ—अ य ग्र थो मे उनका अनुकरण और पिष्टपेषण मात्र होना स्वाभाविक हो गया।

आधुनिक भाषाविज्ञान के अध्ययन का नया अध्याय प्रारभ होता है स्विटज़रलैंड के प्रसिद्ध विद्वान् फर्दिनाँद द सोसुर से, जिनका प्रसिद्ध सैद्धातिक ग्र थ १९१६ ई० मे प्रकाशित हुआ। इन्होने भाषा के सम्बन्ध मे कई मौलिक बाते सामने रक्खी, जिनसे परवर्त्ती अध्ययन असाधारण रूप से प्रभावित हुआ। इन्होने भाषा के दो रूपो का निर्देश किया। एक तो वह है जिसको वस्तुत भाषा नही, वाक् या भाषण मात्र कहना चाहिए। उसके लिए फ्रेंच भाषा मे उन्होने 'ल परोल' नाम दिया है। वह व्यक्तिपरक और प्रसगपरक है। प्रत्येक व्यक्ति के भाषागत व्यवहार मे बहुत भेद है। एक ही व्यक्ति भिन्न भिन्न प्रसगो मे, भिन्न-भिन्न क्षणो मे भिन्न-भिन्न प्रकार की ध्वनियो, शब्दो और अर्थों का प्रयोग करता है। प्रत्येक बार जब कोई व्यक्ति बोलता है, तब वह नई भाषाई घटनाओ का सृजन करता है। किसी व्यक्ति ने आज जिस ध्वनि का उच्चारण किया, आज जिस शब्द के द्वारा जिस अर्थ का बोध किया, वही कल ठीक-ठीक वैसा नही कर सकता। उसकी कल की भाषा-शैली आज की भाषा-शैली से भिन्न थी और इसी प्रकार आज की भाषा-शैली से आने वाले कल की भाषा शैली भिन्न होगी। जहाँ एक ही व्यक्ति की भाषा के सम्बन्ध मे इतने विभेद सम्भव हैं वहाँ जब इतने व्यक्तियो की भाषा के सम्बन्ध की ओर ध्यान दिया जाता है, तब सहज ही हम उसके गतिशील रूप का अनुमान कर सकते है। देश और काल के विस्तार मे फैले हुए व्यक्तियो के द्वारा भाषा की जो अगणित धाराएँ प्रवहमान हैं, उनमे क्षण क्षण परिवर्तनशील गति व्याप्त है। इस प्रवृत्ति के कारण होने वाले भेद तत्काल भले ही न प्रकट हो, परन्तु दो तीन पीढियो मे अथवा कुछ कोसो की दूरी पर अनायास स्पष्ट हो जाते हैं।

इसके विपरीत भाषा का एक दूसरा पक्ष वह है जो स्थिर कहा जा सकता है। इसके लिए सोसुर ने 'ल एनात द लाग' इस पदावली का व्यवहार किया है, अर्थात् 'किसी विशेष भाषा की एक निश्चित अवस्था'। इसी को उन्होने 'लाग' अथवा वास्तविक भाषा की सज्ञा दी है। भाषा का यह रूप समाज-परिनिष्ठित है और व्यक्ति निरपेक्ष। उसमे प्रसगगत भेदो की उपेक्षा है, उसमे कल, आज, परसो के भेद के लिए स्थान नही है, उसमे मेरी भाषा और आपकी भाषा, उनकी भाषा

के भेद के लिए भी गु जाइश नही है। वह समाजगत व्यवहार, व्याकरण, कोश और प्रयोग बल आदि की अनेक व्यवस्थाओ मे बँधी हुई है। भाषण या वाक् के रूप मे जहाँ भाषा जीव वज्ञानिक तथा वश-परम्परा-सम्बन्धी प्राकृतिक नियमो से सचालित होती है, वहा वास्तविक भाषा के रूप मे वह समाज से पोषण प्राप्त करके स्थिर आकार ग्रहण करती है। किसी विशेष समय मे किसी भाषा के अन्तगत जो व्यवस्थाएँ काम करती है, उन्ही के द्वारा वक्ता और श्रोता का सम्बन्ध निर्बाध रूप मे चलता रहता है।

भाषा के व्यक्तिपरक रूप के कारण उसमे जो परिवतन होते रहते है, उनकी दृष्टि से जो अध्ययन किया जाता है, वही कालक्रमिक या ऐतिहासिक अध्ययन के रूप मे प्रस्तुत होता है। उसके व्यक्ति निरपेक्ष तथा समाज सापेक्ष रूप का ध्यान करके जब किसी निश्चित काल मे उसके अन्तगत काम करती हुई व्यवस्थाओ का अध्ययन किया जाता है तो उसके द्वारा उसका वह रूप प्रस्तुत होता है जिसको हम साकालिक अथवा वर्णनात्मक भाषाविज्ञान कह सकते है।

सोसुर ने इस बात की ओर भी ध्यान आकर्षित किया कि भाषा ध्वनि या शब्दो का सग्रह मात्र नही है, वरन् वह अनेक तत्त्वो की इकाइयो का एक सुनिश्चित सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध या 'रिलाटा' के कारण ही अनेक इकाइयो के जोडने से भाषा एक व्यवस्थित रूप प्राप्त करती है। भाषा की यह अतरग व्यवस्था बडी महत्त्वपूर्ण है। परिस्थिति और प्रसग-भेद से एक ही भाषा के कई रूप हो सकते है, जैसे—बोली जाने वाली हिन्दी, लिखित हिन्दी और तार की हिन्दी। ये सभी एक-दूसरी से भिन्न है, एक नही। प्रतीको आदि की दृष्टि से इनमे बहुत अन्तर है, परन्तु इनम व्यवहृत तत्त्वो के पारस्परिक सम्बन्धो या 'रिलाटा' मे कोई परिवर्तन नही, वह एक है, वही भाषा का अतरग रूप है।

भाषा मे इन इकाइयो का स्थान और पारस्परिक सम्बन्ध ये दो बाते बहुत महत्त्व की है। ये इकाइया वस्तुत भावानयन की प्रक्रिया का परिणाम है। ध्वनि की दृष्टि से इनका विवेचन करते हुए सोसुर ने स्वनिम (फोनीम) का विचार प्रस्तुत किया, जिसका अध्ययन आज अमरीका आदि देशो मे चरम विकास पर पहुँच रहा है। कोपनहेगेन के भाषाविदो ने ग्लासोमैटिक्स के रूप मे इस प्रकार के विचारो को गणित की तरह अको मे प्रस्तुत किया है, जो अत्यन्त सूक्ष्म है।

परन्तु इस सम्बन्ध मे यहाँ एक बात विचारणीय है। भाषा को समाज-सापेक्ष मानते हुए भी क्या यह उचित है कि परिस्थिति और प्रसग से उसका सर्वथा विच्छेद करके केवल उसके अतरग तत्त्वो के सम्बन्धो या 'रिलाटा' पर ही निर्भर

रहा जाय ? भाषा वस्तुत एक सामाजिक व्यवस्था है। समाज की विभिन्न परिस्थितियो और प्रसगो मे ही उसका व्यवहार होता है। परिस्थितियो के प्रति मनुष्य की जो प्रतिक्रिया होती है, उसी के एक अग के रूप मे भाषा का व्यवहार होता है। फिर जब भाषा का प्रसग और परिस्थिति से ऐसा अनिवाय सम्बन्ध है, तब उसकी नितात उपेक्षा क्यो की जाय ? इस सम्बन्ध मे पतजलि ने नवाह्निक मे स्पष्ट निर्देश किया है—

"सिद्धे शब्दाथसम्बन्धे लोकतोऽथप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मं नियम ।" उन्होने भाषा के विवेचन मे देश और काल दोनो पक्षो पर पर्याप्त बल दिया है। "अप्रयुक्ते दीघसत्रवत्"—इस वाक्य ने कालपक्ष और 'सर्वे देशान्तरे'—इस वाक्य मे देशपक्ष का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है।

इस सम्बन्ध मे मैं यहा 'वाक्यपदीय का निम्नलिखित कथन भी उद्धत करना चाहता हूँ—

वाक्यात्प्रकरणादर्थादौचित्याद्देशकालत ।
शब्दार्था प्रविभज्यन्ते न रूपादेवकेवलम् ॥

(वाक्यपदीय—२-२-३१६)

यहाँ स्पष्ट निर्देश किया गया है कि भाषा के केवल रूप अथवा अतरग-व्यवस्था के आधार पर ही उसकी ध्वनि, शब्द और अथ का विवेचन नही किया जा सकता। इसके लिए पसग, प्रकरण, काल और देश—इन सबकी आवश्यकता है। वस्तुत लोक, काल और देश की पृष्ठभूमि के बिना न तो भाषा का व्यवहार सम्भव है और न उसका कोई विवेचन। सोसुर ने रूप पर ही अधिक बल दिया था पर हमारी भारतीय परम्परा मे प्रकरण और सदभ को विशेष महत्त्व दिया गया है। मेरी दृष्टि मे परिस्थिति और प्रसग के प्रकाश मे ही भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन साथक और सम्भव है।

कोई भी भाषा समाज के बहुविस्तीर्ण और व्यापक क्षेत्र मे प्रस्फुटित व्यवहारो का समूह है। उसके इसी पक्ष को ध्यान मे रखकर शब्द-शास्त्र को अनन्त कहा गया है। परिस्थिति और प्रसग की अनन्तता के अनुसार किसी भी भाषा के अनन्त रूप सहज ही कल्पित किये जा सक्ते है। उसके इन अनन्त रूपो मे से कोई व्यक्ति उमके कुछ रूपो का ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है, सभी का नही और उन्ही विशिष्ट रूपो का वैज्ञानिक अध्ययन भी सम्भव है। इसीलिए सीमित-से-सीमित क्षेत्र मे ही किसी भाषा का अध्ययन आज के भाषा-विज्ञान की अपेक्षा है। इसी दृष्टि से आज जीवित भाषाओ के साकालिक अध्ययन पर बल दिया जा रहा है। यह पुराने कालक्रमिक अध्ययन से भिन्न

है। इसमे प्रकरण और प्रसग को भुलाया नही जा सकता, बल्कि उन्हे सम्यक् रूप से ध्यान मे रखकर ही भाषा का अध्ययन किया जा सकता है। इस दृष्टि से भाषाविज्ञान को हम विशेष परिस्थितियो और प्रसगो के बीच कार्य मे सलग्न व्यक्तियो का अध्ययन कह सकते है। शरीर-जीवन-धारण की बहुविध क्रियाओ मे, विविध व्यापारो मे सलग्न व्यक्ति ही भाषा का व्यवहार करता है, इसलिए भाषा की व्यवस्थाएँ, गठन और ढाँचे क्रियाओ और व्यापारो मे ही विकासमान होते हैं और उन्ही के बीच उनका अध्ययन किया जा सकता है। इसलिए यह आवश्यक है कि अध्ययन और अनुसधान की एक ऐसी परिपाटी स्वीकृत की जाय जिसमे एक समय मे एक व्यक्ति का विधिवत् अध्ययन किया जा सके और उसके व्यक्तित्व मे अन्तर्निहित भाषा की व्यवस्थाओ की खोज की जा सके। यहाँ ध्यान रहे कि व्यक्ति कोई समाज-निरपेक्ष सत्ता नही माना जा सकता, वह किसी समाज के प्रतिनिधि के रूप मे ही हमारे सामने आ सकता है और इसी रूप मे ग्रहण करके हम उसे अपने अध्ययन का विषय बना सकते है। इस प्रकार प्रतिनिधि रूप किसी एक व्यक्ति का अध्ययन करके हम उसके समाज-गत भाषाई व्यवहारो का वैज्ञानिक अनुशीलन कर सकते हैं।

इस सम्बन्ध मे एक मनोरजक वृत्तान्त मैं आपके सामने प्रस्तुत करना चाहता हूँ। पिछले महायुद्ध के समय ब्रिटिश सेना के समक्ष यह समस्या उपस्थित हुई कि जापानियो के सामरिक व्योमयानो की गतिविधि की जानकारी कैसे प्राप्त की जाय और उनका कैसे नियन्त्रण किया जाय। आकाश मे उडते हुये विमान चालको को जो आदेश दिये जाते थे, उनको समझे बिना यह असम्भव था। परन्तु ऐसी परिस्थिति मे जापानी भाषा का सागोपाग ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाय। यह तो किसी प्रकार सम्भव था नही। इसलिये तत्कालीन सामरिक प्रसग और परिस्थितियो मे प्रयुक्त होने वाली ध्वनियो का ही अध्ययन प्रारम्भ किया गया। युद्ध के क्रियाकलाप मे व्यवहृत इन ध्वनियो के रेकार्ड तैयार किये गये, उनका अनुलेखन किया गया और फिर भाषावैज्ञानिक प्रणाली से उनका विश्लेषण किया गया। इस प्रकार परिस्थिति, प्रसग और व्यवहार से सम्बन्ध स्थापित करके गिरा और उसके व्यवहारगत अर्थ की सगति स्थापित की गई। इस प्रणाली से प्राप्त उपलब्धियो के द्वारा लगभग १० हज़ार व्योमचारी सैनिको को जापानी भाषा की इतनी शिक्षा स्वल्पकाल मे ही दे दी गई, जिससे इस क्षेत्र मे सुगमता से अपने मतलब का काम चला लेने के लिये वे भाषा के व्यवहार से अवगत हो गये, भाषा का यह सार्थक और सफल अध्ययन अनुसन्धान मेरी अपनी अध्ययन-सस्था 'स्कूल आफ अफ्रीकन एण्ड ओरिएटल स्टडीज़' मे ही

सम्पन्न हुआ था। इसलिये इस परिपाटी का मुझे कुछ ज्ञान है और इसीलिये भाषाविज्ञान के इस क्रियात्मक पक्ष की ओर आपका ध्यान मैने आकर्षित किया है।

क्षेत्रीय कार्य के सिलसिले मे जब हमे एक से अधिक व्यक्तियो का अध्ययन करना पडता है, तब हमे उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि पर ही उनके सामुदायिक व्यापारो का भी अध्ययन करना पडता है। इस प्रकार के अनुसन्धान और अध्ययन का सर्वोत्तम उदाहरण हमे प्रसिद्ध नृवश विज्ञानी मैलिनोवेस्की के ग्रथो मे मिलता है। उसे आदश मानकर हम भी अपने यहाँ इस प्रकार के सामाजिक अध्ययन प्रस्तुत कर सकते हैं।

वस्तुत समाज-विज्ञान, नृवश विज्ञान और भाषा विज्ञान का घनिष्ठ पारस्परिक सम्बन्ध है। भाषा-विज्ञान के इसी पक्ष को ध्यान मे रखकर हमने हिन्दी तथा भाषा विज्ञान विद्यापीठ की स्नातकोत्तर कक्षाओ मे इस विषय मे सम्यक् अध्ययन के लिये 'एथनोलिग्विस्टिक्स' के नाम से एक पूण अनिवाय पत्र का समावेश किया है। भाषा-विज्ञान की इस शाखा के लिये नृवशीय भाषा-विज्ञान की सज्ञा प्रयुक्त की जा सकती है। 'ऐन्थरोपोलोजिकल लिग्विस्टिक्स' के नाम से ही अमरीका के इडियाना विश्वविद्यालय से डा० फ्लोरेंस एम बोवगैलिन के नाम से एक पत्रिका प्रकाशित होने लगी है जिसका मुख्य ध्येय साकालिक भाषाविज्ञान के क्षेत्र मे क्रियात्मक नमूने प्रस्तुत करना और ससार भर की भाषाओ का प्रामाणिक सग्रह करना है।

किसी भाषा की शब्दावली उसके व्यवहार क्षेत्र की सस्कृति का दपण है। हमे अपनी भाषा की दृष्टि से जो अथभेद आवश्यक प्रतीत होते है वे ऐसी अन्य भाषाओ के लिये सवथा उपेक्षणीय हो सकते है जिनके अन्तगत उनसे भिन्न दूसरे ही प्रकार की सस्कृति प्रतिबिम्बित है। उनके बदले ऐसी भाषाओ मे भी अथभेद के अनेक दृष्टान्त मिलते ह, जो हमारी भाषा के लिये बिल्कुल निरथक हो सकते है। प्रसिद्ध भाषा-विज्ञानी सैपर के प्रभाव मे बेजामिन ली० होफ ने इन विचारो को और आगे विकसित किया। परन्तु खेद है कि इनके विचारो के अनुसार भाषा और सस्कृति की सामग्रियो के विश्लेषण का अब तक कुछ विशद काय नही हो सका है।

वास्तव मे भाषाओ का प्रामाणिक सग्रह तथा भाषा-सर्वेक्षण दोनो ऐसे काय है, जिनके लिए पर्याप्त सख्या मे प्रशिक्षित कार्यकर्ता आवश्यक है। इसका अभाव भी एक कारण था, जिससे दूसरी पचवर्षीय योजना मे भाषा-सर्वेक्षण

का कार्य स्थगित कर देना पडा। इस कमी को दूर करने के लिये ही रॉक-फेलर फाउ डेशन की सहायता से डेकन कालेज, पूना मे एक 'स्कूल श्राव लिंग्विस्टिक्स' की स्थापना हुई थी, जिसके प्रति वष दो सत्र पिछले पाच वर्षों तक होते रहे है। इसके प्रथम विजिटिग प्रोफेसर और सचालक के रूप मे मैने अपने विद्वान् सहकर्मियो के साथ जो कायक्रम आयोजित किया था उसका मुख्य लक्ष्य था अपने देश की भापाओ और बोलियो का सग्रह और अनुसन्धान के लिए कम-से-कम समय मे अधिक से-अधिक सख्या मे योग्य कायकर्त्ता तैयार करना। इस कायक्रम की उपयोगिता और सफलता को देखकर विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सुविज्ञ अध्यक्ष डा० देशमुख ने अगले वष के सत्र के सचालन के लिये आवश्यक अनुदान देने का वचन दिया है। हमारा विश्वास है कि यदि यह कायक्रम पॉच-दस वर्षो तक और चलता रहा तो इस क्षेत्र मे कायकर्त्ताओ के अभाव की शिकायत नही रह जायगी।

भाषाओ के प्रामाणिक सग्रह और वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए ध्वनिविज्ञान की प्रयोगात्मक शिक्षा तथा यान्त्रिक अनुलेखन की व्यवस्था भी आवश्यक है। अपने देश मे इसका प्रबन्ध न होने के कारण इसके लिए अब तक विदेशो मे जाना अनिवाय था। इसके लिए एक प्रयोगशाला डेकन कालेज, पूना मे कुछ वर्षो से स्थापित थी, पर तु उसमे कुछ वर्षों स केवल स्पन्दग्राह (Oscillo-graph) का काम प्रधानत भौतिक विज्ञान की दृष्टि से होता रहा है। शुद्ध भाषाविज्ञान की दृष्टि से जो ध्वनिविज्ञान प्रयोगशाला अब हमारे हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ मे स्थापित हुई हे, वह देश मे अपने ढग की एक मात्र आयोजना है, जिसमे तालुग्राह, स्पन्दग्राह तथा ध्वन्यकन (रेकार्डिग) के लिए आवश्यक यत्रो की व्यवस्था की जा चुकी है। आवश्यक द्रव्य का प्रबध हो सका तो निकट भविष्य मे स्पेक्टोग्राफ और सोनोग्राम की भी व्यवस्था की जा सकेगी। इस आयोजन के कारण अब यह आवश्यक नही रहा कि ध्वनिविज्ञान के प्रयोगात्मक काम के लिए किसी को विदेश जाने को मजबूर होना पडे। इस प्रकार इसके द्वारा निश्चय ही एक बडे अभाव की पूर्ति हुई है। भाषाविज्ञान के प्रयोगात्मक क्षेत्र मे काम करने के इच्छुक विद्वानो तथा अनुसधित्सुओ को मैं इस सुविधा का समुचित लाभ उठाने के लिए आमन्त्रित करता हूँ।

इधर भाषाविज्ञान के अध्ययन और अनुसधान के क्षेत्र में उसका व्यावहारिक पक्ष भी शनै शनै प्रमुखता प्राप्त करता जा रहा है और यह प्रकट होता जा रहा है कि भाषावैज्ञानिक अनुसधान के आधिविद्य महत्त्व के अतिरिक्त राष्ट्रीय तथा प्रशासकीय नीतियो के निर्धारण और शैक्षणिक समस्याओ के समाधान

की दृष्टि से उसका व्यावहारिक महत्त्व भी कुछ कम नही है। व्यावहारिक भाषा-विज्ञान के अतगत भाषा-शिक्षण-पद्धति पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाने लगा है। ब्रिटेन और अमरीका मे इस बात का अध्ययन किया जाने लगा है कि अँगरेज़ी को विदेशी भाषा के रूप मे किस प्रकार अधिक-से-अधिक सुगमता से कम-से-कम समय मे पढाया जा सकता है। क्या हिन्दी तथा भारतीय भाषाओ के सम्बन्ध मे हम भी इस प्रकार का अनुसधान नही कर सकते, जिससे एक प्रदेश के भाषाभाषी दूसरे प्रदेश की भाषा को अथवा हिंदी को कम-से-कम समय मे अर्जित कर सके ? इसके लिए एक विशेष दृष्टि से ध्वनियो के व्याकरणिक नियमो का और वाक्य की गठनो का अध्ययन अपेक्षित है।

भाषावैज्ञानिक अनुसधान से उपलब्ध प्रणालियो का द्विभाषाभाषियो की दृष्टि से किस प्रकार प्रयोग किया जाय, किसी एक ही भाषा की विभिन्न बोलियो के क्षेत्रो मे कैसे उसका उपयोग हो इत्यादि प्रश्न विचारणीय है। पाठ्यपुस्तको मे किस प्रकार की सामग्री रक्खी जाय, एक भाषा से दूसरी भाषा मे अनुवाद की कठिनाइयो को कैसे हल किया जाय, वैज्ञानिक शब्दावली का किस प्रकार निर्माण किया जाय, एक भाषाभाषी को दूसरी भाषा सिखाने के लिए भाषातरण-व्याकरण की रचना कैसे की जाय, ये सारे विषय व्यावहारिक भाषाविज्ञान के अतगत ही आते हैं। भाषातरण-व्याकरण मे तुलनात्मक प्रणाली से समताओ और विषमताओ का स्पष्टीकरण किया जाता है। हमारे देश मे इस समय इस प्रकार के अनुसधान की कितनी आवश्यकता है, यह सहज ही समझा जा सकता है।

विदेशी भाषाओ के शिक्षण के लिए भी व्यावहारिक भाषाविज्ञान के क्षेत्र मे अध्ययन और अनुसधान की आवश्यकता है। अभी पिछले ही साल अमरीका मे राष्ट्रीय सरक्षण शिक्षा के लिए एक सावजनिक कानून बना है, जिसके अनुसार विभिन्न देशो के क्षेत्रीय अध्ययन के सिलसिले मे आधुनिक विदेशी भाषाओ की शिक्षा देने की प्रणालियो का विकास किया जा रहा है। ऐसी ही कुछ व्यवस्था अपने देश मे भी होनी चाहिए।

राजनीति तथा पारस्परिक व्यवहारो के क्षेत्र मे एक-दूसरे को अपने पक्ष मे मिलाने के लिए भाषा का किस प्रकार प्रयोग किया जाय, विवाद के परिणामो पर नियत्रित शैली का किस प्रकार प्रवर्तन किया जाय, सावजनिक भाषण किस प्रकार दिए जायँ, रगमच पर विभिन्न जनवर्गों के लिए किस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया जाय—इत्यादि विषय व्यावहारिक भाषाविज्ञान के अध्ययन और अनुसधानो के द्वारा ही आज समाधान प्राप्त कर रहे है।

अन्य विज्ञानो के समान भाषाविज्ञान के अध्ययन अनुसधान का भी एक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर है। अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनिविज्ञान परिषद् और अन्तर्राष्ट्रीय भाषा-विज्ञानियो की काग्रेस उसके इसी पक्ष का परिचायक है। हाल मे ही अभी यूनेस्को की ओर से भी एक भाषा-आयोग सगठित हुआ था, जिसमे ससार की भाषाओ के सर्वेक्षण के सम्बन्ध मे विचार हुआ था। ससार की भाषाओ और बोलियो का पर्याप्त रूप से वर्णन अभी नही हुआ है जिनसे उनका सम्यक् अध्ययन हो सके और जो वर्णन उपलब्ध है, वे भी इस रूप मे नही है कि उनकी तुलना की जा सके, क्योकि वे समान परिस्थितियो मे और समान समस्याओ के समाधान की दृष्टि से नही किये गये हे। इसलिए आज आवश्यकता इस बात की है कि देश विदेश मे प्रचलित भाषाओ और बोलियो का वैज्ञानिक ढग से अनुसधान और वर्णन किया जाय। भाषाएँ मानवीय सस्कृतियो की बहुत ही बारीक और सवेदनशील भूमिका है। वे उस प्रकाशपूर्ण दर्पण के समान है, जिनमे किसी समाज का पूर्ण प्रतिबिब देखा जा सकता है। इसलिए देश विदेश के सामाजिक सम्बधो को समझने और समझाने की दृष्टि से ही आज भाषाविज्ञान के अध्ययन और अनुसधान को नियत्रित करना उचित है। भाषाविज्ञान के अध्ययन और अनुसधान का लक्ष्य अभेद मे भद स्थापित करना नही है, जैसा अभी कुछ ही समय पहले राज्यो के पुनस्सगठन के समय भाषाई विवादो को लेकर उपस्थित हुआ था प्रत्युत उसका आदश भेद मे अभेद स्थापित करना है। वह एक ओर अतीत और भविष्य को वतमान मे बाँधने का सूत्र है तो दूसरी ओर देश देशान्तर के मनुष्यो के सबसे प्रबल सम्बन्ध सूत्र भाषा-बोध की शक्ति को स्फुरित करके स्थायी विश्वशान्ति स्थापित करने का साधन है। भर्तृहरि की यह घोषणा अक्षरश सत्य है—

"शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धिनी।"

(वाक्यपदीय)

भाषाविज्ञान के अध्ययन और अनुसधान का यह आदर्श सफल हो!

डॉ० ए० चन्द्रशेखर

भारत में भाषावैज्ञानिक अध्ययन
[भूत, वर्तमान और भविष्य]

भारत को उचित ही इस बात का गव हो सकना है कि भाषाओ के वैज्ञानिक अध्ययन का काय सुदूर वैदिक अतीत मे सवप्रथम इसी देश मे आरम्भ हुआ था और पश्चिम मे भाषाविज्ञान के अध्ययन की धारणा उत्पन्न होने के लगभग दो हज़ार वष पूव ही अपने चरमोत्कष पर पहुँच गया था। सस्कृत वैयाकरणो मे मूधन्य पाणिनि को पाश्चात्य विद्वानो ने 'मानव मेधा का महानतम स्मारक' कहा है। इन विद्वानो ने मुक्त कठ से यह भी स्वीकार किया है कि भाषावैज्ञानिक विश्लेषण के मूल सिद्धान्तो और प्रणालियो के लिए ससार भारत का ऋणी है। लन्दन विश्वविद्यालय के डब्लू० एम० एलन ने 'फोनेटिक्स इन एनशिएन्ट इडिया' नामक अपने ग्रन्थ मे लिखा है कि जहाँ उन्नीसवी शती से पूव के यूरोपीय विद्वानो के भाषावैज्ञानिक ग्रन्थो का—विशेषत उसकी ध्वनि-विज्ञान शाखा पर लिखे गये ग्रन्थो का—अध्ययन कोई विशेष मूल्य नही रखता वहाँ भारत के प्राचीन शिक्षा-शास्त्र और व्याकरण-ग्रन्थो का अध्ययन अत्यन्त लाभप्रद है। इधर कोई तीन वष पूव १६५६ मे अमरीका के केलिफोर्निया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर एम० बी० एमेनो ने अमेरिकन ओरिएन्टल सोसाइटी (अमरीकी पौर्वात्य समाज) मे अपने सभापति भाषण मे इसी मत की पुष्टि करते हुए कहा था कि केवल पाणिनि की पद्धति का दिग्दर्शन कराने के उद्देश्य से ही सस्कृत भाषा का अध्ययन भाषाविज्ञान के लिए आवश्यक विषय होना चाहिए।

कई शताब्दियो के उज्ज्वल इतिहास के पश्चात् भारत मे ज्ञान की अन्य

अनेक शाखाओ की भाति ही भाषाविज्ञान का भी ह्रास हो गया । हम देखते है कि पातजलि के महाभाष्य के उपरान्त भाषाविज्ञान के क्षेत्र मे कोई उल्लेखनीय मौलिक कृति नही मिलती । उत्तरकालीन आचार्यों और भाष्यकारो ने व्याकरण और ध्वनिविज्ञान के प्राचीन ग्रन्थो की जैसी पिष्टपेषित व्याख्याएँ की कि उनसे न केवल उन दिग्गज महर्षियो की अनेक मान्यताएँ धूमिल पड गई वरन् उनके सिद्धान्तो और विश्लेषण-पद्धतियो मे अनेक भ्रातियो का भी समावेश हो गया ।

यद्यपि भारत के प्राचीन वैयाकरणो ने सस्कृत भाषा के अन्यतम विवरण प्रस्तुत किए थे तथापि उन्होने दुर्भाग्यवश भाषाओ के तुलनात्मक अध्ययन की ओर तनिक भी ध्यान नही दिया । ऐसा स्पष्ट ही दो कारणो से हुआ—एक तो सस्कृत व्याकरण की परम्पराएँ आर्त्विजीन तथा वैदिक मन्त्रपाठी अन्य लोगो के लाभ के लिए सस्कृत भाषा के विवरण उपस्थित करने के निमित्त निर्मित हुई थी और दूसरे यह कि सस्कृत वैयाकरण इतर भाषाओ को म्लेच्छ भाषा मानने के कारण उन्हे अध्ययन के अयोग्य समझते थे । यहा यह द्रष्टव्य है कि तोल-काप्पियम तथा नन्नूल आदि तमिल व्याकरण-ग्रन्थो के रचनाकारो मे भी तुलनात्मक दृष्टि के अभाव की त्रुटि विद्यमान है ।

अठारहवी शताब्दी के अन्त मे यूरोपियो द्वारा सस्कृत की खोज किए जाने पर ही आधुनिक भाषाविज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ । उन्नीसवी शताब्दी मे ससार की सभी बडी भाषाओ मे भाषाविज्ञान-विषयक अध्ययन-कार्य होने लगा तथा परिणामस्वरूप यूरोपीय, द्रविड तथा अन्य भाषा-परिवारो पर ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक भाषाविज्ञान के अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए । भारतीय भाषाओ पर काय करने वाले विद्वान्, चाहे वे धम-प्रचारक रहे हो अथवा सैनिक या असैनिक राजकर्मचारी, अधिकतर यूरोपीय थे । पूना के आर० जी० भण्डारकर जैसे कुछ व्यक्तियो को छोडकर शेष भारतीय विद्वान् भाषाविज्ञान के अध्ययन की ओर से प्राय उदासीन रहे ।

उन्नीसवी शताब्दी मे भाषाविज्ञान-वेत्ताओ के परिश्रम के फलस्वरूप भारतीय भाषाएँ—भारतीय-आय, मु डा और द्रविड इन तीन प्रमुख परिवारो मे बाँटी गई । उत्तरी और उत्तर-पूर्वी सीमाओ पर तिब्बत-बर्मी और उत्तर-पश्चिमी सीमा पर ईरानी परिवार की छोटी मोटी भाषाओ को भी मान्यता प्रदान की गई । यहाँ हम सक्षेप मे इसी विषय मे विचार करेगे कि प्रत्येक परिवार की भाषा मे अब तक कितना काम हो चुका है और अभी कितना होना बाकी है ।

भारतीय-आर्य भाषा-परिवार

नवविकसित भाषाविज्ञान के आरम्भिक-काल मे वैदिक साहित्य और

लौकिक सस्कृत मे यूरोपीय विद्वानो की अभिरुचि तुलनात्मक भाषाविज्ञान, धम के इतिहास और भारत यूरोपीय पुरावस्तुओ के स्रोत के रूप मे ही थी। भारत-यूरोपीय के इस पक्ष पर यथेष्ट काय हुआ और इस काल के सम्ब ध मे व्याकरणो, शब्द-कोशो तथा अन्य अध्ययनो के अनेक उल्लेखनीय ग्रन्थ उपलब्ध है। बोट-लिक (Bohtlıngk) रचित पाणिनि की अष्टाध्यायी का अध्ययन और सात अको मे उनका सस्कृत जमन वटरबुख, मोनियर-विलियम्स की सस्कृत-इगलिश डिक्शनरी, वाकरनेगल्स (Wackernagel's) का आलटिडिश ग्रमाटिक (Altındısche Grammatık), थम्ब (Thumb) का 'हैडबुक डेस सस्कृत' (Handbuck des Sanskrıt), काल कैपलर (Carl Cappelar), का सस्कृत वटरबुख (Sanskrıt Warterbuch), ह्विटने (Whıtney) की सस्कृत ग्रामर, मारिस ब्लूमफील्ड (Maurıce Bloomfıeld) का वैदिक कनकार्डेस (Vedıc Concordance), मैक्डा-नल (Macdonnell) का सस्कृत ग्रामर, लुई रेनो (Louıs Renous') का 'वैदिके एट पनिनीनेस' (Vedıques et panıneennes) और 'हिस्त्वार ला लाग सेस्रुति (Hıstoıre de la langue Sansrıte), जे० गोडा का 'दी चैप्टर आफ इडो योरपीयन मूड्स विद स्पेशल रिगाड टु ग्रीक एड सस्कृत' ऐसे ही कुछ ग्रन्थ है। भारोपीय की समस्याओ पर भडारकर के प्रबन्ध, वटकृष्ण घोष का 'लिग्विस्टिक इट्रोन्डक्शन टु सस्कृत', सिद्धेश्वर वर्मा का 'क्रिटिकल स्टडीज़ आन द फोनेटिक आब्ज़रवेशन्स आफ हिन्दूज़', मनमोहन घोष का 'स्टडी आफ पाणिनीय शिक्षा' आदि ग्रन्थो का उल्लेख प्राचीन भारतीय-आय भाषा-विषयक अध्ययन मे भारतीयो के योगदान के रूप मे किया जा सकता हे। विश्व के भाषाविज्ञान और प्राच्य अध्ययन विषयक प्रमुख पत्रो मे प्रति वष ही प्राचीन भारतीय आय के व्युत्पत्ति-विषयक तथा अन्य प्रकार के अध्ययन प्रकाशित होते रहते है। बडे सतोष की बात है कि अपने देश मे महाभारत का आलोचनात्मक सस्क-रण तैयार करने और ऐतिहासिक सिद्धान्तो पर आधारित एक सस्कृत कोश तैयार करने की कुछ बृहत् योजनाओ पर काय हो रहा है।

भारतीय-आय भाषाओ की ओर भारतीय विद्वानो ने उस समय भी बहुत कम ध्यान दिया था जबकि सस्कृत व्याकरण की परम्परा अभी निर्माण की अवस्था मे ही थी। वररुचि की प्राकृत प्रकाशिका और चन्द्र के व्याकरण आदि एकाध ग्रन्थो को छोडकर आरम्भिक-काल मे प्राकृत का कोई व्यवस्थित अध्ययन नही किया गया। आज भी मध्य भारतीय-आय भाषाओ की ओर भाषाविज्ञ यथेष्ट ध्यान नही दे रहे।

वास्तव में तो अशोक के धर्मादेशो के प्राप्त होने के बाद ही पाश्चात्य विद्वानो ने मध्य भारतीय-आर्य भाषाओ मे दिलचस्पी लेनी आरम्भ की थी । मध्य भारतीय-आय भाषाओ के विभिन्न रूपो का एक अत्यन्त सुन्दर अध्ययन पिशेल ने १६०० मे प्रकाशित किया था । तब से धर्मादेशो की भाषा और विभिन्न बोलियो मे पाए जाने वाले जैन और बौद्ध-धर्म ग्रन्थो के विषय मे अनेक अध्ययन प्रकाशित हो चुके है। १६५३ मे फ्रेंकलिन एजर्टन (Franklin Edgerton) ने बौद्ध-धर्म की उत्तरी शाखा की मध्य भारतीय आर्य का प्रतिनिधित्व करने वाली शाखा बौद्ध वर्णसकर सस्कृत पर एक अविस्मरणीय रचना प्रकाशित की थी। एस० के० चटर्जी और सुकुमार सेन द्वारा सम्पादित 'मध्य भारत-आय रीडर' भी, जो गत वष प्रकाशित हुई थी उल्लेखनीय है। इसके द्वितीय भाग मे व्याकरण और व्युत्पत्ति-सम्बन्धी प्रचुर टिप्पणियाँ दी हुई है। किन्तु मध्य भारतीय-आय भाषा के विषय मे जो विशद सामग्री उपलब्ध है उसकी ऐतिहासिक व्याख्या के सम्बन्ध मे अभी बहुत-सा निर्धारणात्मक काय होना शेष है ।

आधुनिक भारतीय-आय भाषाओ पर काय अभी अधिक विकसित अवस्था मे नही है। आधुनिक भारतीय-आय भाषाओ के अध्ययन का सूत्रपात बीम्स (Beams) ने उन्नीसवी शताब्दी मे किया था लेकिन बहुत काल तक इस क्षेत्र मे बहुत ही कम काय हो सका। वतमान शताब्दी मे विद्वानो ने इस दिशा मे पुन काय आरम्भ किया। स्वर्गीय प्रो० यूल ब्लॉख लिखित वेदो से लेकर आधुनिक भाषाओ तक की रूपरेखा 'Outline of an Historical Account of Indo-Aryan' तथा मराठी पर उन्ही का और भी विस्तृत ग्रथ, एस० के० चटर्जी का बँगला पर युगातरकारी ग्रन्थ, काकती का 'असमिया का अध्ययन', बाबूराम सक्सेना का 'अवधी का विकास' (Evolution of Avadhi), धीरेन्द्र वर्मा का 'ब्रजभाषा' और उदयनारायण तिवारी का 'हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास' आदि इस क्षेत्र मे कुछेक उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। यहाँ सर राल्फ टनर के ग्रन्थ 'नेपालीज़ डिक्शनरी' की विशेष रूप से चर्चा करना आवश्यक है क्योकि हमारे लिए आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओ के व्युत्पत्ति ज्ञान का वही एकमात्र सहज साधन है ।

अधिकाश आधुनिक भारतीय आय भाषाओ के अच्छे एव आधुनिक विवेचन अभी भी अप्राप्य है । आधुनिक भारतीय आय भाषाओ का कोई अच्छा व्युत्पत्ति-कोश भी अभी प्रकाशित नही हुआ । किन्तु भारतीयो यूरोपियो और अमरीकियो के सगठित प्रयास से इस अभाव की कम से कम अशत पूर्ति सम्भवत शीघ्र ही हो सकेगी ।

ग्रियर्सन की पुस्तक 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इडिया' देश की समस्त भाषाओ का विवरण प्रस्तुत करने और भाषाओ के आधार पर देश का मानचित्र स्थिर करने का प्रथम व्यवस्थित प्रयास है। किन्तु इसे आशिक रूप मे ही सफल माना जा सकता है क्योकि इसकी सामग्री सवथा प्रामाणिक नही है। फिर भी भारत की भाषाओ और बोलियो के प्रारम्भिक अध्ययन के लिये इसमे आश्चयजनक और प्रचुर सामग्री है। भारतीय भाषाओ के नये सर्वेक्षण की अब तुरन्त आवश्यकता है और इस दिशा मे कदम उठाने के लिए विद्वान भारत-सरकार से निरन्तर अनुरोध कर रहे है। आशा है कि सरकार विधिवत् प्रशिक्षित कार्यकर्ताओ द्वारा किये जाने वाले सर्वेक्षण की उपयोगिता का महत्व समझेगी। इस प्रकार का सर्वेक्षण अविलम्ब होना चाहिये क्योकि अनेक साहित्य-विहीन बोलियाँ बडी जल्दी लुप्त होती जा रही है और उनके पूर्णरूपेण मिट जाने के पूव ही उनके ध्वनि-आलेखन तैयार कर लेना समीचीन होगा।

द्रविड परिवार

द्रविड भाषाएँ बोलने वालो की सख्या ९ करोड होने के नाते ससार की भाषाओ मे उनका स्थान पाचवाँ या छठा ठहरता है। द्रविड भाषाओ मे तमिल सर्वाधिक प्राचीन है और उसका इतिहास लगभग ईसा के समय से आरम्भ होता है। कालावधि की दृष्टि से तमिल के पश्चात् क्रमश तेलुगु, कन्नड और मलयालम का स्थान है। पाणिनि तथा सस्कृत के अन्य वैयाकरणो और ध्वनि-विज्ञो की प्रेरणा से ईसवी शताब्दी के आरम्भ मे ही तमिल मे व्याकरण तैयार होने लगे थे। 'तोलकाप्पियम' आज भी प्राप्य है। तेरहवी शताब्दी मे तमिल का एक और विशद व्याकरण 'नन्नूल' उपलब्ध हुआ। लगभग इसी समय तेलुगु, कन्नड और मलयालम मे व्याकरणो की रचना हुई।

द्रविड भाषाओ का प्रथम व्यापक सर्वेक्षण करने का श्रेय धमप्रचारक विद्वान राबर्ट काल्डवैल को है जिन्होने द्रविड भाषाओ के तुलनात्मक व्याकरण का प्रथम सस्करण १८५६ मे प्रकाशित किया था। उस समय तक भारतीय-आय भाषाओ के विषय मे इस प्रकार का कोई ग्रन्थ नही निकला था और यूरोप मे भी तुलनात्मक भाषाविज्ञान अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे था। प्रथम ग्रथ होने के नाते तथा अपेक्षाकृत न्यून सामग्री पर आधारित होने के कारण काल्डवैल के ग्रन्थ मे अनेक त्रुटियो का होना स्वाभाविक ही है। काल्डवैल के तुलनात्मक व्याकरण के पश्चात् एच० गुडर्ट ने मलयालम व्याकरण और शब्दकोश, किटेल ने कन्नड व्याकरण और शब्दकोश तथा सी० पी० ब्राउन से तेलुगु शब्दकोश आदि ग्रन्थ प्रकाशित किये। ए० एच० आर्डेन

ने तमिल और तेलुगु के बोलचाल के रूपो पर व्याकरण-ग्रन्थ लिखे जो अपनी कुछ कमजोरियो के बावजूद आज भी इसलिये प्रचलित हैं कि इस विषय पर उनसे अच्छे ग्रन्थो की रचना ही नही हुई। अभी पिछले दिनो अमरीकी विद्वान डब्ल्यू० वाइट ने बोलचाल की कन्नड का एक व्याकरण पूना से प्रकाशित किया था।

द्रविड परिवार की साहित्य-विहीन कुछ बोलियो का अध्ययन अधिकाशत धर्मप्रचारको ने किया और दक्षिण भारत की तुलु, मध्य भारत की गोडी और कुरुख के सक्षिप्त विवरण गत शताब्दी मे प्रकाशित हुये। सर डेविश ने बलूचिस्तान की ब्राहुई बोली का व्याकरण इस शताब्दी के आरम्भ मे प्रकाशित किया। नीलगिरि मे बोली जाने वाली कोटा और मध्य भारत मे बोली जाने वाली पारजी और ओल्लारी के अध्ययन अभी हाल ही मे प्रकाशित हुए है। इन सबके बावजूद द्रविड परिवार की साहित्य विहीन बोलियो के गहन अध्ययन की तत्काल आवश्यकता है।

काल्डवैल के प्रसिद्ध ग्रन्थ के प्रकाशन के पश्चात् लगभग अध-शताब्दी तक द्रविड भाषाओ के तुलनात्मक अध्ययन का काय प्राय रुक-सा गया। तत्पश्चात् स्वर्गीय प्रो० एल० वी० रामस्वामी अय्यर ने इस विषय पर अनेक प्रबन्ध प्रस्तुत किये। प्रो० अय्यर ने मलयालम के ध्वनिविज्ञान और रूपविज्ञान पर उत्कृष्ट निबन्ध लिखे। भारत-यूरोपीय पद्धति-प्रक्रिया के कठोर प्रशिक्षण, सभी प्रमुख भारतीय भाषाओ और कई यूरोपीय भाषाओं के प्रत्यक्ष ज्ञान के कारण रामस्वामी अय्यर द्रविड भाषाओ के भाषा-विज्ञान विषयक अध्ययन के लिये अत्यन्त उपयुक्त व्यक्ति थे। उनकी अकाल मृत्यु से भाषाविज्ञान के अध्ययन के क्षेत्र मे भारत की अपार क्षति हुई है।

द्रविड भाषाओ के विवरण निम्न स्तर के होने के कारण द्रविड भाषाओ के तुलनात्मक काय मे बडी बाधा पडी है। १९४६ मे ब्लॉख़ ने 'स्ट्रक्चर ग्रेमेटिकल डेस लेग्वेस ड्रेवेडियन' नामक अपना ग्रन्थ प्रकाशित किया था जो द्रविड भाषाओ के रूप-विचार का तुलनात्मक ग्रन्थ है। कन्नड और मलयालम की आरम्भिक अवस्थाओ के ऐतिहासिक विवरणात्मक व्याकरण प्रकाशित हो चुके हैं। द्रविड भाषाओ के अच्छे विवरणात्मक और ऐतिहासिक व्याकरणो की अभी भी बडी आवश्यकता है। बरो और एमेनो द्वारा रचित द्रविड भाषाओ का एक व्युत्पत्ति-कोश इन दिनो इग्लैड मे छप रहा है और शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इडिया' मे दक्षिण भारत के राज्यो को नही छुआ

..या था। इस ग्रन्थ के चतुथ भाग मे द्रविड और मुडा भाषाओ का सक्षिप्त-सा उल्लेख है। साहित्य-विहीन द्रविड बोलियो का हमारा ज्ञान बहुत ही अधूरा है, जान पडता है कि अभी उनमे से कई की तो खोज होनी बाकी है जैसा कि पारजी के अन्वेषण से विदित होता है।

मुडा परिवार

मु डा भाषाओ के अब तक के उपलब्ध विवरण असतोषजनक हैं और 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इडिया' मे भी उनकी चर्चा नाम मात्र को की गई है। इस वग की कुछ गौण भाषाएँ अभी अभिलिखित होनी शेष हैं। मु ड' भाषाओ मे तुलनात्मक काय तो अभी हुआ ही नही है। जैसा कि एमेनो ने सकेत भी किया है—मु डा का आस्ट्रो-एशियाई परिवार की भाषाओ से सम्पक स्थापित करने और उसे मलयो-पोलीनीसियन के साथ महान् आस्ट्रिक परिवार मे स्थान देने के कुछ विद्वानो के प्रयास को अभी तक सफल नही माना जा सकता।

सीमान्त क्षेत्रो की भाषाएँ

उत्तरी और उत्तर-पूर्वी सीमान्त-क्षेत्रो की तिब्बत-बर्मी भाषाओ और पश्चिमी सीमान्त क्षेत्रो की ईरानी भाषाओ तथा सीमान्त क्षेत्रो की ही बुरुशास्की, खासी तथा अन्य गौणतर भाषाओ के आधुनिक ढग के विवरण लगभग अप्राप्य ही है। ईरानी के अतिरिक्त इनमे से अन्य किसी भाषा के सम्बन्ध मे कोई तुलनात्मक अध्ययन भी नही हुआ है।

प्रशिक्षण और अनुसधान

भाषा-विज्ञान के कार्यकर्ता प्रशिक्षित करने और अनुसधान-परियोजनाएँ सगठित करने के सम्बन्ध मे कलकत्ता विश्वविद्यालय को छोड अन्य विश्वविद्यालयो एव शिक्षा-प्रतिष्ठानो मे १९३९ तक बहुत कम काम हुआ था। उक्त वर्ष मे डकन कालेज रिसच इस्टीट्यूट की स्थापना की गई और उसमे भाषाविज्ञान का एक विभाग रखा गया। किन्तु डकन कालेज मे भी अभी पिछले दिनो तक, जब तक कि उसे अमरीका के राकफैलर फाउडेशन से काफी वित्तीय सहायता नही मिलने लगी थी, कोई विशेष काय नही हो सका था। अब लगभग पाँच वर्ष से डकन कालेज भाषा-विज्ञान के ग्रीष्मकालीन एव शिशिरकालीन सक्षिप्त पाठ्यक्रमो का सचालन कर रहा है जिनमे से कुछ उत्तर और दक्षिण भारत के केन्द्रो मे आयोजित होते हैं। साथ ही यह भी सन्तोषप्रद है कि १९२६ मे स्थापित लिंग्विस्टिक सोसाइटी आफ इडिया (भारतीय भाषाविज्ञान समाज) जो अनेक वर्षों से निष्क्रिय था अब फिर सक्रिय हो गया है और सुचारु रूप से

कार्य कर रहा है। महत्त्व की दृष्टि से लिंग्विस्टिक सोसाइटी ग्राफ इडिया से कुछ कम किन्तु सक्रियता मे उससे कुछ अधिक दिल्ली का लिंग्विस्टिक सर्किल (भाषाविज्ञान-मडल) है जिसके सदस्य न केवल देश के विभिन्न भागो के भारतीय ही हैं वरन् अनेक विदेशी भी है। आगरा विश्वविद्यालय के तत्वावधान मे स्थापित के० एम० इस्टीट्यूट ग्राफ हिन्दी स्टडीज़ एड लिग्विस्टिक्स कदाचित् उत्तर भारत मे भाषाविज्ञान के अध्ययन का सबसे महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। गत तीन-चार वर्षों मे कई अन्य विश्वविद्यालयो ने भाषाविज्ञान के क्षेत्र मे शिक्षा और अनुसधान का कार्य आरम्भ किया है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि दिल्ली का लिंग्विस्टिक सर्किल एक भाषा अनुसधान प्रतिष्ठान की स्थापना कर रहा है जिसके अवैतनिक निर्देशक भारतीय भाषाविज्ञान के अग्रणी डा० सिद्धेश्वर वर्मा होगे।

भारत के विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष श्री चिन्तामरिग द्वारकानाथ देशमुख के सभापतित्व मे १९५७ मे पूना मे विश्वविद्यालयो के उपकुलपतियो का एक सम्मेलन हुआ था। बहुत कुछ इस सम्मेलन के परिणाम-स्वरूप हमारे शिक्षा-विशेषज्ञो और शासक-वग मे भाषा विज्ञान के प्रति थोडी रुचि उत्पन्न हुई है। इसलिये भारत मे भाषाविज्ञान के अध्ययन के स्तर के बारे मे इस सक्षिप्त सर्वेक्षण को अमेरिकन ओरिएन्टल सोसाइटी के सभापति एम० बी० एमेनो के इन शब्दो के साथ समाप्त करना उचित होगा

"पाश्चात्य भाषा-विज्ञान के उष काल मे प्रकाश अवश्य ही भारत से प्राप्त हुआ। वर्तमान काल मे भारत मे भाषा विज्ञान के प्रति नई जागृति उत्पन्न होने से हम भारत से नया प्रकाश पाने की अपेक्षा रखते हैं।" हमे आशा करनी चाहिये कि भाषाविज्ञान को विकसित करने और चरमोत्कष पर पहुँचाने वाले हमारे प्राचोन महान् सस्कृत वैयाकरणो के आधुनिक प्रतिनिधियो के प्रयत्नो से उपरोक्त लालसा पूरी होकर रहेगी।

परिशिष्ट

पश्चिम मे भाषा-विज्ञान का जिस रूप मे विकास हुआ है उसकी निम्न-लिखित महत्त्वपूर्ण शाखाएँ हैं

(१) विवरणात्मक भाषा-विज्ञान, जिसमे ध्वनि-विज्ञान, ध्वनि तत्व-विज्ञान, रूप-विचार, कोश-निर्माण, शैली विज्ञान और अथ-विचार आदि सम्मिलित है, (२) ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान जिसका विषय भाषाओ का इतिहास है, और (३) तुलनात्मक भाषा-विज्ञान जिसका विषय भाषाओ के इतिहासो और रूपो के आधार पर उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना है जिससे कि ऐतिहासिक

दृष्टि से सम्बद्ध भाषाओ के परस्पर सम्बन्ध और उनके मूल रूप का निर्धारण हो सके। विवरणात्मक भाषा-विज्ञान ही ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान का आधार होता है। किसी भी भाषा की विभिन्न अवस्थाओ को जानने पर ही हम उसके इतिहास को जान सकते है। इसी प्रकार तुलनात्मक भाषा-विज्ञान भी सभी सम्बद्ध भाषाओ के विस्तृत विवरणो पर आधारित होना चाहिए। सक्षेप मे, भाषा-विज्ञान क्रमश विवरणात्मक से आरम्भ होकर ऐतिहासिक से होते हुए तुलनात्मक पर समाप्त होना चाहिए।

किन्तु अजीब बात है कि पश्चिम मे भाषा-विज्ञान के इतिहास का क्रम इससे ठीक उल्टा रहा है। सस्कृत की खोज ने जैसे ही उन्हे भाषाओ के सम्बन्ध के प्रति जागरूक बनाया वैसे ही वे सीधे तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की ओर टूट पडे।

भाषाओ के अत्यन्त विस्तृत और वस्तुपरक विवरण प्रस्तुत करने की सस्कृत वैयाकरणो की परिपाटी के प्रति वे लगभग इस शताब्दी के आरम्भ तक उदासीन बने रहे। परिणामस्वरूप भारोपीय भाषाओ के सबध मे ऐसा बहुत-सा तुलनात्मक कार्य हुआ जो कुछ हद तक उन भाषाओ के इतिहास और उनके वतमान रूपो के विषय मे समुचित अध्ययन के अभाव से ग्रस्त था।

गत शताब्दी मे भारत मे जो कुछ हुआ वह सम्बद्ध भाषाओ के ऐतिहासिक और विवरणात्मक व्याकरण तैयार करने के पूर्व ही तुलनात्मक अध्ययन आरभ कर लेने की यूरोपीय प्रणाली का ही सच्चा प्रतिबिम्ब था। इसका परिणाम पश्चिम की अपेक्षा भारत मे आधुनिक भाषा-विज्ञान की प्रगति के लिए कही अधिक घातक सिद्ध हुआ है क्योकि पाश्चात्य विद्वानो को कम से कम ग्रीक और लेटिन भाषाओ के रूपो की तो पूरी जानकारी होती थी।

भारतीय भाषा-विज्ञान के क्षेत्र मे आज सबसे बडी आवश्यकता है कि सभी भाषाओ और कम से कम बडी भाषाओ की प्रमुख बोलियो के अच्छे विवरणात्मक और ऐतिहासिक व्याकरण अविलम्ब तैयार किए जाए। उपरोक्त विषय मे बँगला, मराठी, हिन्दी और मलयालम इन चार भाषाओ को छोड अन्य भाषाओ मे प्राप्य अध्ययन सामग्री-विवरणात्मक और ऐतिहासिक दृष्टिकोण से आधुनिक आवश्यकताओ के देखे बहुत अपर्याप्त है।

भारतीय भाषाओ के विवरणात्मक व्याकरण तैयार करने मे ध्वनि-विज्ञान और रूप-विचार विषयक विश्लेषण की नव-विकसित पाश्चात्य प्रणालियो का पूरा-पूरा उपयोग किया जाना चाहिए। किसी भी भाषा की प्रमुख बोलियो के ध्वनि-आलेखन और वातावरण की दृष्टि से उनके रूप-

विचार का वस्तुपरक विवरण वाक्यो मे प्रस्तुत करने की अमरीकी प्रणालियाँ वाछनीय है। वास्तव मे तो प्राचीन सस्कृत वैयाकरणो ने ही इनका सूत्रपात किया था और उन्ही से यूरोपियनो ने इन्हे सीखा था किन्तु विविध रूपो वाली अनेक भाषाओ पर इन प्रणालियो का व्यवहार होने से आधुनिक उपायो का आधार सचमुच व्यापक हो गया है। सी० एफ० हाकेट की हाल ही मे प्रकाशित पुस्तक 'A course in Modern Linguistics' मे इन प्रणालियो का विस्तृत वर्णन है।

किसी भी विवरणात्मक व्याकरण के विवेचन जीवित भाषा के सावधानी-पूर्वक किए गए निरीक्षणो पर आधारित होने चाहिएँ। उदाहरणार्थ हिन्दी मे लिंग बोध के विवरण प्रस्तुत करने मे यह नही भूलना चाहिए कि हिन्दी-क्षेत्र के कुछ भागो मे स्त्रिया क्रियाओ के स्त्री-लिंग रूप का प्रयोग नही करती। सज्ञाओ के लिंग-रूपो के विषय मे स्थानिक मतभेदो तथा कुछ सज्ञाओं के लिंग-रूपो के विषय मे कुछ हिन्दी-भाषियो के बीच फैली हुई भ्रातियो को भी यथा-सम्भव अभिलिखित करना चाहिए। हिन्दी क्षेत्र के विभिन्न भागो मे विविध रूपो मे बोली जाने वाली हिन्दी के ध्वनि-विज्ञान, रूप-विचार, वाक्य-रचना और अर्थ-विचार सम्बन्धी सभी पहलुओ का हिन्दी भाषा के विवरणात्मक व्याकरण में पूरा उल्लेख होना चाहिए।

विभिन्न भारतीय भाषाएँ आज कहाँ और किस रूप मे बोली जाती है इसका सही अध्ययन करके ही हम उन भाषाओ के इतिहास, आपसी सम्बन्धो और एक दूसरे पर पडने वाले प्रभाव को समझ सकते हैं। इस दृष्टि से भाषा के आधार पर समूचे देश का सर्वेक्षण नितान्त आवश्यक हो गया है। इस शताब्दी के आरम्भ मे प्रकाशित ग्रियर्सन के 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इडिया' का सबसे बडा दोष यह है कि उस ग्रन्थ के लिए सामग्री ऐसे लोगो ने एकत्रित की थी जिनकी न तो भाषा-विज्ञान सम्बन्धी अनुसधान मे कोई दिलचस्पी थी और न जिन्हे उसका कोई प्रशिक्षण ही प्राप्त हुआ था। इसलिए इस ग्रन्थ की 'ध्वनि-विज्ञान' विषयक सामग्री विशेष रूप से अविश्वसनीय है। सामग्री का अधिकाश भाग अनुवाद के द्वारा सगृहीत किया गया है जो कि भाषा विज्ञान की दृष्टि से नितान्त अनुपयुक्त है। 'लिंग्विस्टिक सर्वे' का एक और प्रमुख दोष विभिन्न बोलियो के समुचित अध्ययन का अभाव है। अतएव भारत मे एक नया भाषा-सर्वेक्षण अविलम्ब अपेक्षित है। साथ ही यह सर्वेक्षण विवरणात्मक भाषा-विज्ञान की नवीनतम पद्धतियो का उपयोग कर सकने वाले प्रशिक्षित भाषाविज्ञो द्वारा किया जाना चाहिए।

भारतीय भाषा विज्ञान के नए सर्वेक्षण मे तथ्यो का सग्रह और वर्गीकरण इस प्रकार होना चाहिए

(१) **सामान्य (अथवा विशुद्ध) भाषा-वैज्ञानिक सर्वेक्षण**—यह प्रथम चरण है और इसके अन्तगत शब्द-भडार, पदावली, वाक्यो वाक्य-समुदायो और लोक-साहित्य आदि सामग्री सगृहीत और समन्वित की जाती है।

यह सामग्री इटरनेशनल फोनेटिक एसोसिएशन की लिपि और रायल एशियाटिक सोसाइटी की लिप्यन्तर-प्रणाली मे आवश्यकतानुसार सशोधन करके अभिलिखित कर लेनी चाहिए। प्रत्येक अध्ययन सामग्री के व्यापकतम और गहनतम सग्रह कार्य पर आधारित होकर विवरणात्मक और ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान का सर्वागीण एव सम्पूर्ण अध्ययन होना चाहिए।

(२) **बोली-भूगोल तथा भाषा-वज्ञानिक मानचित्र**—सामान्य सर्वेक्षण के उपरान्त गवेषणा की यह एक विशिष्ट दिशा है जिसके अ तगत किसी भाषा की विभिन्न बोलियो की कुछेक प्रवृत्तियो का सीमित परन्तु साथ ही गहन अध्ययन आवश्यक होता है। इस गवेषणा के आधार पर बोलियो की विशेषताओ के अनुसार मानचित्र तैयार किये जाते हैं। किसी बोली का सर्वेक्षण करने की प्रणाली नीचे वर्णित है।

(३) **व्यक्तिवाचक सज्ञाएँ**—यह विभिन्न बोली क्षेत्रो मे व्यक्ति एव स्थानवाचक नामो का अध्ययन है।

सर्वेक्षण के लिए सामग्री एकत्र करने और उसका विश्लेषण करने मे टेप रिकाडर और 'कीमोग्राफ बहुत सहायक होते है। सामग्री के यथासभव साख्यिकीय विश्लेषण से अध्ययन वस्तुत वैज्ञानिक हो जाएगा।

बोलियो का मानचित्र तैयार करने के लिए बोलियो के सम्बन्ध मे सामग्री एकत्र करने और उनका वर्गीकरण करने का तरीका इस प्रकार है —

(१) किसी भी प्रदेश का प्रारम्भिक सर्वेक्षण यह जानने के लिए किया जाना जाना चाहिए कि उसके विभिन्न भागो मे प्रयोग के प्रचलित रूप किस प्रकार भिन्न है और इस दृष्टि से भी कि प्रयोग की दृष्टि से प्रदेश किस प्रकार विभक्त है।

(२) इस प्रकार दो विभिन्न सदभ-रूपरेखाएँ तैयार कर ली जाती हैं। एक उन भौगोलिक स्थानो की सूची होती है जहाँ पर प्रयोगो की विस्तृत रूप से जाँच की जाती है। दूसरी सूची प्रयोग के विषयो मे की होती है।

(३) क्षेत्र-कार्यकर्ता प्रदेश मे घूमते है और निर्धारित स्थानो पर रुककर उपयुक्त सूचना दे सकने योग्य व्यक्तियो की सहायता से प्रश्नावली के उत्तर लिख लेते है। बहुधा उत्तरदाता उन वृद्ध लोगो मे से चुने जाते है जो उस स्थान पर बचपन से रहते आए हो।

(४) समस्त प्रदेश की सूचना सगृहीत हो जाने पर विभिन्न प्रयोगो को इगित करने वाले क्षेत्र दर्शाते हुए समस्त प्रदेश के मानचित्र तैयार किये जाने चाहिएँ।

सर्वेक्षण के लिए विविध विषय चुने जा सकते है, उदाहरणाथ

(१) ऐसे शब्द अथवा पदोच्चय जो प्राय इस प्रकार के अथ व्यक्त करते है —'जल ले जाने का बडा पात्र', 'जल पीने का छोटा पात्र' 'कोई खाद्य पदाथ' आदि।

(२) किसी भी शब्द का अलग-अलग क्षेत्रो मे प्रचलित अलग-अलग अर्थ,

(३) किसी भी शब्द का उच्चारण।

(४) दो रूपो का ध्वनि तात्विक साम्य अथवा विभेद, जैसे लोटा और लौटा।

(५) कुछ शब्दो का लिग-विचार, उदाहरणाथ हिन्दी सज्ञाओ के साथ लिग-भेद का प्रयोग होता है।

जिस प्रदेश मे सर्वेक्षण किया जाए उसके एक नक्शे मे प्रयोग की विभिन्न विशेषताओ को विभिन्न प्रतीको से अथवा समन्वित रेखाओ से प्रदर्शित करके प्रयोग की भौगोलिक सीमाएँ निश्चित कर ली जाएँ।

ऐतिहासिक और तुलनात्मक भाषाविज्ञान के क्षेत्र की कुछेक समस्याएँ जिन पर अनुसधान-काय प्रतीक्षित है और जिनका हिन्दी से भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सरोकार है इस प्रकार हैं —

(१) प्राचीन वैयाकरणो ने जिन विभिन्न प्राकृत बोलियो की चर्चा की है उनमे और विभिन्न क्षेत्रो मे बोली जाने वाली भाषाओ के बीच ऐतिहासिक सम्बन्धो की स्थापना,

(२) डा० सुनीतिकुमार चटर्जी द्वारा लिखित 'इण्डो-आर्यन इन हिन्दी' मे पृष्ठ सख्या ६१–६२ पर इगित किये गये मध्य भारतीय आय भाषा मे अर्ध-तत्सम और देशीय तत्त्वो का विवेचन,

(३) भारतीय-आर्य मे अनार्य तत्त्वो का और उनके सम्भव स्रोतो का निर्धारण,

(४) भारत के तीन प्रमुख भाषा-परिवारो के बीच उन ऐतिहासिक सम्बन्धो का अनुसधान जिनके कारण समस्त भारतीय भाषाओ मे अनेक समानताएँ पाई जाती है,

(५) भारतीय भाषा-विज्ञान के प्रागैतिहासिक काल और सिंधु घाटी सभ्यता के नाम से विदित युग की वस्तुओ मे अभिलिखित भाषा या भाषाओ के स्वभाव का विवेचन ।

डॉ० ताराचन्द

इतिहास और साहित्य

मेरे व्याख्यान का विषय इतिहास है। इतिहास किसे कहते है और इतिहास कैसे लिखा जाता है, इतिहास मे शोध का क्या स्थान है—इन्ही प्रश्नो पर मैं रोशनी डालने का यत्न करूँगा। लेकिन इसी के साथ हिन्दी साहित्य मे इतिहास के स्थान पर भी निगाह डालना ज़रूरी है।

हमारे देश मे इतिहास की तरफ रुचि कम रही है। पुराने काल मे इतिहास का अर्थ था पुराणो की कथाएँ, जिनमे तथ्य की मात्रा थोडी और आख्यान का परिमाण अधिक था। आज भी यूनिवर्सिटियो मे विद्यार्थियो का इधर कम ध्यान है। आर्ट्स फैकल्टी मे हिन्दी के पढने वाले बहुत मिलेगे, और विषयो के विद्यार्थी भी कम गणना मे नही, पर इतिहास की क्लासो मे सख्या थोडी ही होगी। अर्थशास्त्र, साइस की तरफ खिचाव बहुत है। यह आधुनिक शास्त्र है। इनके जानने वालो की बडी माँग है। इसी कारण इनको सीखने का चाव है।

आजकल के शिक्षा के क्रम मे विषयो को अलग-अलग कर देने का यह नतीजा है कि ज्ञान ज्ञान नही रहा, टुकडो मे बँट गया है। यह अच्छा नही। बुद्धि, जो ज्ञान का साधन है, एक समुचित अटूट वस्तु है, ज्ञान के विभागो पर अलग-अलग लगे रहने से इसकी अखडता पर आघात होता है, इसकी सवज्ञता मे बाधा आती है जो हमारी मानवता की पूर्णता मे त्रुटि डालती है। विश्व-विद्यालयो मे तो हमे पूर्ण ज्ञान की खोज करनी चाहिए। साइस, इतिहास, भाषा और साहित्य सब ज्ञान के अग है, एक वृक्ष की शाखाएँ है। एक प्रकाश के विभिन्न रग हैं। इनकी सेवा शुश्रुषा एकागी नही होनी चाहिए।

इतिहास की जानकारी वास्तव मे इसी सर्वांगीण ज्ञान के सहारे ही हो सकती

है। इस निगाह से देखे तो इतिहास की रूपरेखा समझ मे आ सकती है। इतिहास क्या है, जानने से पहले देखना यह है कि इतिहास क्या नही है ? इसके लिए इतिहास के इतिहास पर गौर करना जरूरी है।

मैंने शुरू मे कहा था कि हमारे इतिहास के पुराने जमाने मे इतिहास नही था। इतिहास का शब्द तो था पर इसका अर्थ कुछ और था। रामायण और महाभारत की बातो को, पुराणो की कहानियो को इतिहास का नाम दे दिया था। इनमे आज के इतिहास के ढग से न घटनाओ के काल का निर्णय है न व्यक्तियो और समूहो के जीवन का क्रमबद्ध वर्णन। पुराणो मे पाच विषय हैं सर्ग, प्रतिसर्ग, मन्वन्तर, वश और वशानुचरित। इनमे सृष्टि की उत्पत्ति और लय का ब्यौरा है, मनुओ के जन्मो का उल्लेख है। इनसे इतिहास का क्या सम्बन्ध है ? वश भले ही इतिहास का विषय हो सकते है पर पुराणो की वशावलिया पहेलियाँ है जिनको बूझना मुश्किल है। पारजीटर सरीखे विद्वानो को इसमे ज्यादा सफलता नही हुई। पुराणो के बहुत बाद कश्मीर के कल्हण और श्रीवर ने राजतरगिणी लिखी। इसमे समकालीन घटनाओ को छोडकर बहुत कुछ मनगढत किस्से है। सस्कृत मे तो इतिहास का अभाव-सा ही है। पर मुसलमानों ने अरबी-फारसी मे इतिहास की दागबेल डाली। इतिहास घटनाओ की माला है जो काल के सूत्र मे पिरोई हुई है। काल से अलग इतिहास की कोई हस्ती नही। काल की भित्ति पर इतिहास की सारी इमारत खडी है। अरबो ने इस सिद्धान्त का अनुभव किया और घटनाओ के काल के निश्चय पर जोर दिया। उन्होने घटनाओ के साल, महीने और दिन की जाँच की। हजरत मुहम्मद की जीवनी और उनकी कृतियो और शिक्षाओ का समय नियत करने की कोशिश की। मुहम्मद साहब की किवदन्तियो के बारे मे पूरी खोज की। कब, किस मौके पर, किसके सामने बात हुई, किसने पहले सुनी, उससे किन पुरुषो के जरिये बाद के लोगो तक पहुँची, यह बयान करने वाले कहाँ तक भरोसे के आदमी थे, कहा तक इन कथनो को सच्चा माना जाए, किवदन्तियो के दुहराने वालो पर कितना विश्वास किया जाए। काल का निर्णय और साक्षियो की साख की जाए—यह दोनो ही इतिहास के लिये अनिवार्य हैं। और इन दोनो पर अरबो ने भरपूर ध्यान दिया।

यही कारण है कि जब मुसलमात विद्वान् हिन्दुस्तान मे पहुँचे तो उन्होने इतिहास लिखने की तरफ तवज्जोह की। सबसे पहले मुहम्मद बिन कासिम ने पश्चिमी ओर से सिन्ध पर हमला किया। उसका हाल 'चचनामे' मे लिखा गया, फिर महमूद गजनवी के आक्रमण हुए। उनका वर्णन कई इतिहासो मे मिलता

है। जिनमे उलूबी की तारीखे-यमीनी, बीरुनी की तारीखुल-हिन्द और तारीखे-बैहकी मशहूर है।

इसके पीछे जिन-जिन वशो ने अपना राज्य जमाया सभी का इतिहास लिखा गया। इनमे तबकाते नासिरी जिसका लेखक मिनहाजुस सिराज था, अलाउद्दीन जुवैनी की तारीखे जहाकुशा, मुस्तौफी की तारीखे-गजीदा, मीर ख्वद की रौजतुस्सफा, जियाउद्दीन बरनी की तारीखे फीरोज़शाही, अहमद यादगार की तारीखे-सलातीने अफागना इत्यादि विख्यात है।

मुगल बादशाहो के कारनामो का वृत्तान्त बाबर की तुजुक, ख्वदमीर के हुमायूनामे, अबुलफज्ल के अकबरनामे, तुजुकेजहागीरी, अब्दुल हमीद के बादशाहनामे मुहम्मद काजिम के आलमगीरनामे, खफीखा की मुन्तखबुललुबाब, शाहनवाज़ खाँ की मआसिरुल उमरा, गुलाह हुसैन खा की सिअरुल मुताख्खिरीन जैसी अनेक पुस्तको मे मिलता है।

इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले ऐसे सैकडो ग्रन्थ मिलते है। पर सच पूछिये तो इनमे इतिहास का शुद्ध और पूण रूप नही पाया जाता। कारण यह है कि इन किताबो के लिखने वाले मौलवी लोग थे। यह धम के पण्डित थे, बादशाहो के आश्रित थे। धम के पालक पोषक थे। अपने आश्रयदाताओ के गुण गाने वाले, इस्लाम का झडा ऊँचा करने वाले थे। मुसलमान बादशाहो को सराहना, उनके पराक्रमो को बढाकर दिखाना और अवगुणो पर परदा डालना, अपने धम को सबसे श्रेष्ठ पद देना और इसके अनुयायियो को ऊँचा दिखाना स्वाभाविक ही था। पर इतिहास और है और प्रशस्ति-रचना और। इन इतिहास लिखने वाले मौलवियो के यहाँ विचित्र बाते मिलती है। हिन्दू मुसलमानो की लडाइयो का ज़िक्र करते है तो लिखते है एक लाख हिन्दुओ के मुकाबिले मे दस हजार मुसलमान थे पर जीत मुसलमानो की हुई। हज़ारो काफिर मारे गए और हज़ारो ने दीने-इस्लाम मे पनाह ली। ऐसा लगने लगता है हिन्दुस्तान हिन्दुओ से खाली हो गया होगा। पर सच इसके बिलकुल विरुद्ध है। दिल्ली को लीजिए। ग्यारहवी सदी से मुसलमान बादशाहो की राजधानी रही। सात सौ बरस यहाँ इस्लाम का झडा फहराता रहा। पर इस लम्बे समय मे कभी ऐसा नही हुआ कि हिन्दुओ की सख्या मुसलमानो से कम रही हो। आगरा मुसलमानो का दूसरा महत्त्वशाली केन्द्र था पर आगरा और सारे ब्रजमण्डल मे सदा हिन्दू जनता की तूती बोलती रही। पजाब से बगाल तक का भूमि-भाग मध्य देश कहलाता था। हिन्दू सभ्यता का गहवारा था। फिर कई सौ बरस मुसलमान राज्यो का हृदय-प्रदेश बना रहा। यहाँ आज पचासी फी-सदी से ज्यादा हिन्दू बसते है। कौन मौलवियो के लिखे इतिहासो को

पढ कर यह आशा कर सकता है कि यह सच है। फारसी तारीखो को बडी सावधानी से पढने की ज़रूरत है। इनके बे सोचे अध्ययन से बेहद हानि हुई है और आगे होने की सम्भावना है।

इतिहास काल पर निर्धारित है। काल नाम है परिवतन का। परिवर्तन की गति देश और समय से सम्बन्ध रखती है। कभी परिवतन की चाल बडी मन्द होती है, कभी बडी तेज़। एक देश मे एक ज़माना गुज़र जाता है। और ऐसा जान पडता है मानो किसी तरह की तब्दीली हुई ही नही। फिर समय पलटता है और समाज बिजली की तरह पलटा खाता है। हिन्दुस्तान मे हज़ारो बरस बीत गए, समाज मे आर्थिक अवस्था, गाव की प्रथा, जात पॉंत के सगठन मे किसी प्रकार का विप्लवी विकार नही प्रतीत हुआ। यूरोप मे पाचवी सदी से पन्द्रहवी सदी तक समाज एक ढग से चलता रहा। फिर पहला इन्कलाब पन्द्रहवी सदी मे और उससे घोरतर अठारहवी सदी मे हुआ। अठारहवी सदी के विप्लव ने यूरोप की काया पलट दी। इसे उद्योग-क्रान्ति अर्थात् इन्डस्ट्रीयल रेवोलूशन के नाम से पुकारते है। इसके दबाव से यूरोप दिनोदिन तेज़ी के साथ आगे बढ रहा है। पन्द्रहवी सदी की क्रान्ति का असर धम, सस्कृति, साहित्य, कला और बुद्धि पर पडा। अठारहवी सदी की क्रान्ति ने समाज को नीचे से ऊपर तक बदल दिया। सामती सगठन को तहस-नहस कर डाला, ऊँचे नीचे, धनी निधन के फर्कों को बहुत दूर तक मिटा दिया। प्रजातन्त्र का नक्शा तैयार किया। प्रतिनिधि राज की नीव डाली। उस पुराने समाज की बुनियाद जिस आर्थिक क्रम पर थी उसी को जड से उखाड फेंका।

इसके विरुद्ध हिन्दुस्तान मे कम से कम बारहवी सदी से उन्नीसवी के आरम्भ तक किसी तरह की क्रान्ति नही हुई। नतीजा यह हुआ कि समाज मे और राजकाज के ढग मे तब्दीली नही हुई। इस निश्चल समाज का इतिवृत्त भी स्वभाव से एक से सिद्धान्तो पर लिखा जाना चाहिए। शिक्षित दल की विचारधारा मे जब परिवतन नही हुआ तो उनके उद्गारो मे कैसे तब्दीली हो सकती थी।

जब उ नीसवी सदी मे अग्रेजों ने अधिकार जमाया तो इनके पडितो ने हिन्दुस्तान की सभ्यता-सस्कृति के समझने का प्रयत्न किया। विलियम जोन्स ने सस्कृत सीखी, कालिदास की शुकन्तला का अग्रेज़ी मे तजु मा किया। वारेन हेस्टिग्ज़ फारसी जानता था। अन्य अग्रेज़ो ने इतिहास की तरफ ध्यान दिया। पर अग्रेज़ी बुद्धि की पृष्ठभूमि थी पाश्चात्य सस्कृति, विजयी जाति का अभिमान। उन्होने फारसी की तारीखो से अपने मतलब के निष्कर्ष जमा कर लिए। हिन्दुओ

और मुसलमानो के भेदो को हिमालय से ऊँचा कर दिखाया। द्वैध की अग्नि को खूब हवा दी। राजनीति का तकाजा था। साम्राज्य का महल धर्मों के पारस्परिक कलह की नीव पर ही तो खडा हो सकता था।

अग्रेजो ने जो ऐतिहासिक वातावरण पैदा किया उसमे हिदुस्तानी लेखको ने साँस ली। हमारे दिलो मे वही अग्रेजी पक्षपात बस गए। उन्ही से बाधित होकर हमने इतिहास रचे। इनके पढने से मालूम होता हे कि हमारे दिमागो पर गैरो का सिक्का जमा है। मानसिक गुलामी की ज़जीरे अभी टूटी नही।

इन बन्धनो से छुटकारा पाने, अपना स्वतन्त्र दृष्टिकोण बनाने के लिए इस बात की आवश्यकता है कि इतिहास की असलियत को समझे। आइये, यूरोप और इसके इतिहास पर निगाह डाले। सबसे पहले यूनान मे इतिहास के लिखने की परिपाटी चली। ऐसा क्यो हुआ इसकी बडी रोचक कहानी है पर यह समय इसके वर्णन का नही है। यूनान मे दो बडे इतिहास-लेखक हुए। एक का नाम हेरोदोतुस है जिसे इतिहास का जनक कहते है। दूसरे का नाम थूकीडाई-डीज है। हेरोदोतुस ने यूनान और ईरान के युद्ध का इतिहास लिखा। इस युद्ध मे हिन्दुस्तान के सिपाही रुई के बने सफेद कपडे पहने शामिल थे। थूकीडाई-डीज ने एक दूसरे युद्ध का हाल लिखा जो एथेज और स्पार्टा के बीच मे हुआ। हेरोदोतुस का वर्णन सीधा-सादा घटनाओ का ब्यौरा है। यूनान, ईरान, मिस्र के लोगो की वेश-भूषा, आचार व्यवहार का हाल है। कुछ प्राचीन काल की बाते हैं पर असल इतिहास का विषय युद्ध है। थूकीडाईडीज़ का इतिहास घटनाओ तक सीमित नही है। उसने कार्य-कारण के सम्बन्धो पर विचार किया है। सेनापतियो की युद्ध-प्रणाली और व्यूह-रचना पर विचार किया है। राज-नीतिज्ञो की नीति को उन्ही के शब्दो मे बयान किया है। नेताओ के विचारो और कामो की परीक्षा की है।

पर सच पूछिए तो पूरे ग्रथ मे यह कसौटी पर खरे नही उतरते। इन दोनो की तारीख की सामग्री साठ-सत्तर बरस से अधिक नही। ऐसी कथा वार्ता को इतिहास का नाम का देना खटकता है। इन्हे इतिहास का पहला कदम भले ही कह सकते है।

यूनानियो के बाद रूमियो का नम्बर आता है। सभी जानते है रूम साम्राज्य विशाल था। इगलिस्तान से लेकर ईरान की सीमा तक फैला हुआ था। साम्राज्य के फैलाव पर रूमियो को उचित गर्व था। विद्वानो की स्वाभा-विक रुचि इतिहास लिखने की ओर गई। बहुत लेखको ने तारीखे लिखी। इनमे तीन का नाम सबसे ऊँचा है अर्थात् सैलुस्ट, लिवी और टैसीटुस। सैलुस्ट

ने दो किताबें लिखी जिनमे रूम और उत्तरी अफ्रीका के लडाकू नेता जुगर्था की जग का वर्णन है। लिवी की पुस्तक का बडा विस्तार था। इसमे १५० पोथियो थी। दस दस पोथियो के पन्द्रह ग्रन्थ थे। आज इनमे से बहुत थोडे प्राप्य हैं बाकी नष्ट हो गए। लिवी ने इस किताब मे रूम का आदि से अन्त तक का इतिहास देने का यत्न किया था। टैसीट्स का विषय था रूम और जमनी के युद्धो का इतिहास। उसने युद्ध के पराक्रमी नेताओ के जीवन पर और जमनो के रहन-सहन पर अच्छा प्रकाश डाला है।

पाँचवी सदी मे जमन जातियो ने रूम साम्राज्य को नष्ट कर दिया। और यहाँ से यूरोप का मध्यकालीन इतिहास शुरू होता है। यह बडा विचित्र काल था। इस काल मे धर्म का महत्त्व अधिक था। ईसाई सम्प्रदाय के प्रमुख पोप का डका बजता था। रूमी चच का सवव्यापी राज्य था। यह अधिकार एक हज़ार वष बना रहा। पोपो के प्रभुत्व के समय मे, इन हज़ार वर्षो मे, जो साहित्य तैयार हुआ उसकी कुछ-कुछ तुलना हिन्दुस्तान के मध्यकालीन साहित्य से कर सकते हैं। साधु-सन्तो, सूफी दर्वेशो की जीवनी, उनकी वाणी, उनकी करामाते, चमत्कार यही साहित्य का सर्वस्व है। इतिहास तो नही समाचार-ग्रन्थ (क्रानीकल) लिखे गए। यह अलौकिक घटनाओ, अनहोनी कृतियो के वर्णन से भरी पडी हैं। इनमे तथ्य की मात्रा कम ही है।

सोलहवी सदी मे ज़माना पलटता है। यूरोप का पुनर्जीवन होता है। ज्ञान की रोशनी फैलने लगती है। अधविश्वास के बादल छटने लगते हैं। नरक के भय और स्वर्ग के लालच से मन हटने लगता है। मरने के बाद हमारी क्या गति होगी—यह विचार कमज़ोर पड जाता है। जीवन मे इस पाँच भूत के जगत मे क्योकर रहे, सुख प्राप्त करें, उन्नति के पद पर आगे बढें, व्यक्ति और समाज को किस रास्ते पर लाएँ कि दोनो की भलाई हो। जब परलोक की चिन्ता की जगह इहलोक-सेवा के विचार ने ली तो बुद्धि मे भी तबदीली हुई। बुद्धि की उत्पत्ति मे फलो और फूलो ने नया रूप दिखाया। इतिहास ने भी रग पलटा।

नए इतिहास का मार्गदशक था माकियावेली और उसका समकालीन जुई-चियार्डिनी। माकियावली की विशेषता यह थी कि उसने राजनीति और इतिहास को धम की अधीनता से मुक्त किया। ससार को मानुषी क्रियाओ का क्षेत्र समझा, अमानुषिक शक्तियो की अवहेलना की।

अब निगाह बदली। यूरोप के दूसरे देशो के इतिहासकारो ने तथ्य की खोज को अपना ध्येय बनाया। तथ्य जानने के लिए पुराने लेख-पत्र

जमा किए। यूरोप के पुस्तकालय खँगाले, इटली, फ्रान्स, जमनी, इग्लैड जहा भी लेख मिले उन्हे इकट्ठा किया। परन्तु सामग्री की खोज ने इतिहास-निर्माण का अवकाश नही दिया।

अठारहवी सदी मे खोज के आधार पर ग्रन्थ रचना शुरू हुई। गिबन पहला बडा इतिहासकार हुआ जिसने रूम साम्राज्य का बृहत् इतिहास लिखा। इस इतिहास मे घटनाओ पर ध्यान दिया गया। घटनाओ के स्रोतो की छान-बीन की गई। समालोचना और विवेक से काम लिया गया। परम्परा पर अध-विश्वास छोड दिया गया। सही अर्थों मे इतिहास जानने की कोशिश हुई। मन-बहलाव से परे रहकर, इच्छा और भावना की प्रेरणा को रोककर, यथासभव तथ्य को आदश मानकर इतिहासकारो ने लिखना आरम्भ किया। कारण यह था कि साइन्स के युग का श्रीगणेश हो गया था। साइन्स का भाव सदेह है जो ज्ञान के उदय से ही शान्त हो सकता है। मन का सतोष न तो देवोक्ति से हो सकता है न ब्रह्म-वाक्यो से, न ऋषियो-मुनियो, रसूल पैगम्बरो के उपदेशो से। उद्धरेदात्मनात्मानम्। आदमी के लिए सिवाय अपनी बुद्धि-निष्ठा के और कोई चारा नही। बुद्धि ही एकमात्र साधन है जिससे प्रकृति और मनुष्य का ज्ञान हासिल हो सकता है। सदेह का सकट दूर हो सकता है। ज्ञान और तथ्य एक दूसरे पर निभर हैं। इतिहास की जानकारी तथ्य का ज्ञान ही है।

इस ऐतिहासिक ज्ञान का मर्म समझाने मे डार्विन के विकासवाद ने सहायता की। विकास का आधार काल पर है। डार्विन ने सिद्ध किया कि काल-क्रम के साथ जन्तुओ का परिवतन हुआ है। सरल निरवयव जन्तु सुसगठित सावयवो मे बदले हैं। समाज-विज्ञान ने सिखाया ऐसी ही तबदीली मानव-समाज मे भी हुई है। आदिवासी धीरे-धीरे सभ्यता की सीढी पर चढते है और उन्नति करते हैं।

उन्नीसवी सदी के इतिहासकारो पर इन विचारो का प्रभाव पडा। इतिहास-विकास दशन का एक अग हो गया। इतिहास का लक्ष्य यह हुआ कि परिवतन की कडियो को जोडकर एक जजीर बनाई जाये। चूँकि परिवर्तन आदमी और समाज दोनो मे ही होता है इसलिए इतिहास को समाज के सभी अगो के विकास पर ध्यान देना चाहिये। इतिहास को केवल राजाओ, सामन्तो और मन्त्रियो आदि की कृतियो तक सीमित नही समझना चाहिये। आर्थिक सगठन जातियो और पक्तियो का सगठन, धार्मिक विचार, सस्कृति सभी बदलते हैं। एक दूसरे पर असर डालते हैं। इतिहास की निगाह सब पर होनी चाहिए। इस सबका परिणाम यह निकला कि उन्नीसवी सदी मे दो बातो पर अधिक

ज़ोर दिया गया, घटनाओ का यथावत् वर्णन और घटनाओ को विकास के सूत्र मे बाँधना ।

बीसवी सदी के आदि मे ऐसा भासने लगा कि तथ्य का ज्ञान प्राप्त करना एक आदमी, एक विशेषज्ञ के बूते से बाहर है । इतिहास का फैलाव बहुत है और एक विद्वान की पहुँच से बाहर है । इतिहास की सामग्री इतनी बढ गई है और इतिहास के इतने मुख है कि बिना कितने ही विद्वानो के योग के निर्वाह असम्भव-सा था । मिसाल के लिए पहले विश्व-युद्ध को लीजिए । इसके कारणो मे राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक, सैनिक सभी प्रकार की प्रेरणाये हैं । एक आदमी कैसे सबको जान सकता है ? फिर युद्ध का क्षेत्र पृथिवी के जल-थल का विस्तृत भाग था । हरेक भाग मे क्या हुआ—उन सबकी छानबीन एक व्यक्ति नही कर सकता । युद्ध के अन्त और सन्धि के बनाने मे महीनो लगे, बडे-बडे नेताओ के अलावा सैकडो, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, शासन, समर शास्त्र, भाषा-विज्ञानियो आदि ने मिलकर नई दुनिया का नक्शा तैयार किया । इसको समझना एक लेखक के सँभाले नही सँभल सकता है । कुदरती तौर पर लेखको ने सोचा कि इतिहास सहकार चाहता है । तब ऐतिहासिको के गुट बने और उन्होने मिलकर बडे विस्तारपूवक इतिहास लिखने की चेष्टा की । कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी की अध्यक्षता मे यूरोप का प्राचीन इतिहास आठ ग्रन्थो मे, मध्यकाल का इतिहास आठ ग्रन्थो मे, अर्वाचीन बारह ग्रन्थो मे, हिन्दुस्तान का इतिहास छह ग्रन्थो मे, अँग्रेज़ी साहित्य का बारह ग्रन्थो मे निकले । इन पुस्तक-मालाओ को छपे बहुत समय नही बीता था कि एक नई समस्या सामने आई । एक-एक ग्रन्थ मे बहुत से अध्याय और परिच्छेद थे और प्रत्येक का लेखक विशेषज्ञ था । उनकी विचारधाराओ मे विविधता होना स्वाभाविक था । नतीजा यह हुआ कि ग्रन्थ बँधा तो एक जिल्द मे था पर उसमे चिन्तन का सामजस्य, विचार की एकता नही थी ।

फिक्र हुई कि यह कैसे पैदा की जाये । इसका तरीका यह था कि इतिहास क्या है इस पर सोच-विचार किया जाये । यह नयी बात नही थी । अठारहवी सदी मे इटली के एक विद्वान वीको ने इस पर गौर किया था । उसने एक पुस्तक लिखी जिसका नाम था नई साइन्स (सीयज़ा नूओवा) । इसमे बतलाया है कि सभ्यता के तीन युग होते हैं । हर युग मे सभ्यता कुछ गुण दर्शाती है जो दूसरे और तीसरे मे बदलते है । फिर सभ्यता का अवसान होता है । उसके बाद दूसरी सृष्टि बनती है । यह भी तीन युगो के बीतने पर लोप हो जाती है । यही सिलसिला आदि से चला आ रहा है और भविष्य मे जारी रहेगा ।

इतिहास इस चक्र का ब्यौरा है ।

वीको के बाद कई और कल्पनाएँ निकली । उन्नीसवी सदी मे विख्यात विद्वान मार्क्स ने अपनी थियोरी पेश की । उसका सिद्धान्त यह था कि समाज और राज की सभी तबदीलिया आर्थिक परिवतन पर निर्भर हैं । सम्पत्ति के उत्पादन के ढग पर समाज और राज का सगठन होता है, जितने सामाजिक व्यापार (फिनोमिना) है सब आर्थिक कानूनो से जकडे हुये है । हमारे औजारो पर हमारी तकनीक का आसरा है । तकनीक पर उत्पादन का और उत्पादन पर मनुष्यो के सम्बन्धो का दारोमदार है । इन सम्बन्धो से समाज का रूप निश्चय होता है । इस रूप के अनुकूल धर्म, नीति, साहित्य, कला का निर्माण होता है । जैसे उत्पादन की प्रणाली बदलती है समाज की प्रकृति मे हेरफेर होता है । आरम्भ मे असभ्य जातियो मे एक सामान्य समता थी । उसके बाद सामन्ती युग का उद्घाटन हुआ । उसके अन्त पर पूजीपतियो का आधिपत्य कायम हुआ । इसका बदलना आवश्यकीय है और इसके पलटने पर मज़दूरो और कमेरो के राज का आना अनिवार्य है ।

मार्क्स के सिद्धान्तो का जो दुनिया की मानसिक और व्यावहारिक हालत पर असर पडा है उसे सभी जानते हैं । वह बयान का मोहताज नही । अब कोई इतिहास नही लिखा जा सकता जिसमे आर्थिक कारणो का उल्लेख न हो ।

मार्क्स के बाद बीसवी सदी मे दो महत्त्वशाली चिन्तक हुये जिन्होने इतिहास लिखने वालो पर बडा प्रभाव डाला । एक तो जमन स्पेंग्लर और दूसरे अग्रेज़ टॉयनबी । स्पेग्लर की पुस्तक का नाम है 'पश्चिमी देशो की अधोगति' (डेर उराटर गाँग डेज़ आवेंडलाडेज़) । टॉयनबी की पुस्तक दस जिल्दो मे है । उसने इसका नाम रखा है 'इतिहास का अध्ययन' (ए स्टडी आफ हिस्ट्री) ।

स्पेग्लर की कल्पना है कि सभ्यताओ की अवस्थाएँ होती हैं । सब सभ्यताएँ चाहे किसी काल की हो इन अवस्थाओ को पार करती है । इन अवस्थाओ को स्पेग्लर जाडे, गर्मी और पतझड कहता है । सभ्यता का बचपन का ज़माना होता है, फिर जवानी आती है और इसके बाद बुढापा । आखिर मे उसकी मौत हो जाती है । स्पेग्लर के अनुसार ग्रीस, रूम आदि यूरोप की सभ्यताएँ इन पडावो से गुजरी है । ग्रीस और रूम की सभ्यताओ का तो अन्त हो चुका, यूरोप की सभ्यता पतन के ढाल पर नीचे की ओर खिसक रही है ।

टॉयनबी ने अपनी किताब मे दुनिया की सभी सभ्यताओ की जाँच की है, पुरानी और नई, बर्बर और सभ्य । वह इस नतीजे पर पहुँचा है कि मानव-

जगत् मे दो कृतियाँ काम करती है वाद-प्रतिवाद, उद्रेक परिणाम, कारण-कार्य। सभ्यता इन्ही दो की लीला से बनती, फलती-फूलती है। मिस्र के इतिहास मे इसका अच्छा उदाहरण मिलता है। एक ज़माना था जब इतिहास का सूत्रपात नही हुआ था। नील नदी की घाटी मे आदिम जातियाँ बसती थी। प्रकृति के उद्रेको का इन्होने कोई उत्तर नही दिया। हजारो बरस बीत गए यह बर्बरता के अँधेरे मे डोलती रही। इनके पीछे और जातियाँ आईं। उन्होने नील नदी के उतार-चढाव को देखा। मनो मे स्फूर्ति आई। बुद्धि को धक्का लगा, वह जागी। अनुभव किया कि नील नदी हर साल अपनी बाढ के साथ उपजाऊ मिट्टी लाती है और उसे घाटी के मैदानो मे फैला देती है। उसका यह चमत्कार हर साल ठीक समय पर होता है। बस यह जानना था कि इससे फायदा उठाने की धुन लगी। खेती होने लगी, नहरे बनने का प्रबन्ध हुआ, पानी के बाँट की योजनाएँ बनी। समाज और राज की रचना हुई। उवरा भूमि के धन से देश मालामाल होने लगा। एक के बाद दूसरे खानदान का राज्य हुआ। सभ्यता उन्नति के सोपान पर चढने लगी।

इसी विश्वव्यापी प्रश्न-उत्तर मे सभी सभ्यताओ का रहस्य है। आरम्भ मे बहुत सभ्यताएँ थी। उनमे से बाईस ने अपना अलग साँचा बनाया। धीरे-धीरे इनमे से बहुत-सी मिट गईं। आज चार सभ्यताएँ जीवित है अर्थात् पश्चिमी ईसाई, इसलामी, भारतीय हिन्दू और चीनी। पर टॉयनबी का विचार है कि चारो एक दूसरे के निकट आ रही हैं। पश्चिमी अपनी वैज्ञानिक और व्यावसायिक उन्नति के बल पर तीनो को अपने प्रभाव मे ला रही है और इस क्रम से अन्त मे केवल एक विश्व सभ्यता बाकी रहने वाली है।

यह सब कल्पनाएँ केवल एक अभिप्राय रखती हैं ऐतिहासिक घटनाओ की बहुतायत को एकता के सूत्र मे पिरो देना। परन्तु विज्ञान का भी तो यही अभिप्राय है अर्थात् प्रकृति के बहुत्व को एकता प्रदान करना। तो फिर क्या इतिहास और विज्ञान मे कोई फक नही ? इस सवाल पर दशनविदो ने विचार किया पर इनके मतो मे भेद है। कुछ की धारणा है इतिहास और विज्ञान मे अन्तर नही। ऐसा मत माक्सवादियो का है। पर बहुत ऐसे भी हैं जो इससे सहमत नही है। इन लोगो का तर्क गम्भीर और रोचक है।

इस मत के अनुसार विज्ञान और इतिहास के बीच ऐसी चौडी खाई है कि उसे पाट सकना असम्भव है। विज्ञान का व्यापार द्रव्य से, पचभूत कायामय वस्तु से, प्रकृति की शक्ति से है। यह परिवर्तनशील जगत देश-काल के बन्धनो से बँधा है। भूतो के अणु एक दूसरे से मिलते हैं, अलग होते हैं, सदैव गति आन्दोलन

मे रहते है। जड पदार्थों से सूरज, चाँद, सितारे पैदा होते है, पृथ्वी तैयार होती है। पृथ्वी पर जीव, वनस्पति, जन्तु, मनुष्य प्रगट होते है। यह सारा जगत द्रव्य और शक्ति का खेल है। विज्ञान इसकी देखरेख से अपना कलेवर तैयार करता है। पर विज्ञान से पूछिये यह सब क्यो होता है। इस ससार के तमाशे का क्या अभिप्राय है तो उसके पास जवाब नही। यह कब हुआ, कैसे हुआ, इसके हेतु क्या हैं, यह तो साइन्स बताती है। 'क्यो' के सामने इसे चुप ही रहना पडता है।

विज्ञान के विरुद्ध इतिहास की घटनाओ के कालक्रम निश्चित कर देने पर सन्तोष नही होता। अकबर कब पैदा हुआ, उसने कौन कौन प्रदेश जीते, कैसे जमीनो का प्रबन्ध किया, उसकी धार्मिक नीति क्या थी, उसने कब देह-त्याग किया। इन सबकी जानकारी इतिहास की सामग्री उपस्थित करती है, इतिहास नही। पर हमे जानना है कि अकबर के दीने इलाही के सचालक कौन विचार और वृत्तियाँ थी, अकबर के सामने क्या उद्देश्य था, उसके क्या राजकीय आदश थे। इस प्रकार का ज्ञान हमे इतिहास के मूल तत्व की तरफ ले जाता है। यह ज्ञान केवल बाहरी जगत से सम्बन्ध नही रखता। इसका नाता हमारी आत्मा से है, उस मूल तत्व से जिसके इशारे से मन और बुद्धि काम करते है। यह ज्ञान इन्द्रियो का विषय मात्र नही यह उस कर्त्ता का आशय है जिसकी प्रेरणा से इन्द्रियाँ अपना काम करती है। यह कर्त्ता देश और काल से अतीत है, कारण और काय के सम्बन्ध से परे है, मानवी उद्देश्यो, आदर्शों का निवासस्थान है, वस्तुओ और कृतियो मे मूल्य आरोपण करने वाला है।

इतिहास इस कर्ता के उद्गारो का देश-काल के क्षेत्र मे आविष्कार है। हमारे उद्देश्य, आदर्श, मूल्य और परमार्थ इतिहास मे प्रकट होते है। व्यक्ति और समाज के जीवन मे, हमारी इच्छाओ और आकाक्षाओ मे, हमारी चेष्टाओ मे, सघर्षों मे, हार-जीत मे, उन्नति-पतन मे इनका प्रादुर्भाव होता है। इतिहास का ज्ञान इन आध्यात्मिक प्रेरको का ज्ञान है। इतिहास को जानना अपने को जानना है और इस जानने से बढ़कर किसी ज्ञान का मूल्य नही। इतिहास की खोज आत्मा की जिज्ञासा है।

अगर यह भावना ठीक है तो इतिहास का विकास न केवल राज है, न केवल समाज, न केवल आर्थिक सगठन। व्यवसाय और वाणिज्य यह सब हैं और इनसे आगे हैं नीति और धम। इतिहास का काम है आदमी के पूरे अनुभव और उनकी सभी उद्भावनाओ की जाँच। कला, साहित्य, विज्ञान, राजकाज, समाज सभी इस अनुभव से ओतप्रोत है। इतिहास इस अनुभव का निरीक्षण है। इससे इतिहास की सीमाएँ दिनोदिन फैलती जाती हैं। आज इतिहास की

दृष्टि विश्वव्यापी है। विज्ञान इसका सहायक है अधिपति नही। यह विज्ञान के समान स्थितियो, सस्थाओ, प्रगतियो, आन्दोलनो का विश्लेषण करता है, पर कला के समान सागोपाग वर्णन का सृजन करता है। तीनो भाव इसके अन्तर्गत है—सत्, चित् और आनन्द।

यहाँ तक तो मेरा प्रयत्न यह था कि आपके सामने इतिहास, इसके अर्थ और इसकी विशेषताओ के बारे मे अपना वक्तव्य उपस्थित करूँ। अब कुछ इस नाते से कि आप लोग हिन्दी के साहित्य पर विचार करने के लिए इकट्ठे हुए है इतिहास और साहित्य के सम्बन्ध की चर्चा उचित है।

साहित्य के लिए कहा जाता है यह समाज का प्रतिबिम्ब है (मिरर आफ सोसाइटी)। समाज क्या है? भूत, भविष्यत् और वर्तमान का सम्मेलन। हमारा भूत अर्थात् हमारे पूर्वज हमारे हाड-मास और मन की वृत्तियो मे विद्यमान हैं। समाज का भूत उसकी परम्परा है, रस्म, रिवाज, धर्म, भाषा आदि है। यह सब समाज के जीवन के अग हैं। भविष्य समाज के आदर्श है, भविष्य बीज-रूप वर्तमान मे छिपा है पर समय के साथ अकुर लेता है। वर्तमान मे भूत और भविष्य के डाडे मिल जाते है। साहित्य इन तीनो कालो का दिग्दर्शन कराता है। इतिहास अतीत के रूप मे झलकता है और इस नाते से साहित्य का अग है। समाज एकता और अनेकता, व्यक्ति और समूह, समान और विविध का सगम है। पर यह सब काल के पहियो पर चढे हैं। इस पहिये के साथ चक्कर खाते बढते है। चकराना बन्द हो जाये तो ससार थम जाए। इतिहास विलीन हो जाए। जब तक ससार मे गति है तब तक इतिहास है।

साहित्य सृजन है। इन्द्रियगोचर तथ्यो के समुदाय का नाम जगत है। हमारी कल्पना इस जगत के आधार पर एक नये जगत का उत्पादन करती है। यह जगत कही ज्यादा रोचक है। इसका सौन्दर्य हृदय को विह्वल कर देता है। इसका उत्तेजन मन को ऊँचा करता है। इसको पकडकर हम भावो के गहरे समुन्दर मे गोता लगाते है। साहित्य ससार के विषयो से बँधा है पर इनसे मुक्त भी है। मुक्त होने के कारण मनुष्य की सर्जन-शक्ति का प्रदर्शक है।

विषय हमारे भावो को उकसाते हैं। पर इन भावो का जीवन साधारण रूप से अस्थायी है, क्षणभगुर है और बहुत करके उथला है। साहित्य इन भावो मे स्थिरता, दृढता, गहराई उत्पन्न करता है। अस्थिरता और छिछलापन उन भावो के गुण हैं जो मनुष्य और पशु मे समान हैं। इनके विरुद्ध

भावो मे जितनी चपलता की मात्रा कम होती है उतने ही वह हमारी मानवता के अनुकूल होते है। इतिहास का काम परिवतनमय ससार को नित्य और अमर बना देना है।

साहित्य नाम है शब्द व्यजना का। पर शब्द केवल चिह्न मात्र हैं, भावो (फीलिग) और उपलब्धियो (परसेपशन) की निशानी। भाव और उपलब्धि मे काल का परिमाण है। भाव और उपलब्धि कुछ समय तक स्थिर रहते है। उठते है, ठहरते है, और फिर लोप हो जाते है। डर का भाव मन मे पैदा होने से निकल जाने तक कुछ समय लेता है। डर कई प्रकार का होता है। मदा और तेज़, हल्का और भारी। लाल वस्तु को आँख देखती है, लाली कुछ देर तक बनी रहती है। लाल रग अनेक छटाओ का होता हे, हल्के गुलाबी से लेकर गहरे लहू जैसे तक। हमारे शब्द इन प्रतिरूपो को बताने के लिए पर्याप्त नही। यही साहित्यकार का कौशल अपना चमत्कार दिखाता है। ऐसे शब्दो को छाँटता है और उन्हे इस प्रकार एक दूसरे के साथ जोडता है कि उन्हे सुनकर हमारे हृदय मे सोये हुए भावो का असली रूप जाग उठता है।

इतिहास इस विषय मे साहित्य के समान है। विस्मृत घटनाओ को फिर से जीवित करना ही इतिहास का काम है। चेतना (माइण्ड) की अभिव्यक्ति के तीन ही रूप है। एक रूप वह है जिसमे बाहरी जगत् प्रधान है, चेतना तथ्य के अधीन प्रकट होती है। दूसरा रूप वह है जिसमे चेतना की कल्पना-शक्ति बाहरी जगत पर, तथ्य पर, अपना शासन जमाकर अपने को प्रगट करती है। तीसरे रूप मे तथ्य और कल्पना का सामजस्य होता है। वह एक-दूसरे के अधीन नही होते। पहला रूप विज्ञान (साइन्स), दूसरा साहित्य (लिट्रेचर) और तीसरा इतिहास (हिस्ट्री) है।

डा० राजबली पाण्डेय

अनुसंधान की प्रक्रिया और प्रविधि

१—प्रक्रिया और प्रविधि साधन मात्र

किसी भी मानव-प्रयास को जब सहज किन्तु अनिश्चित पगडडियों से निकाल कर शास्त्र का रूप दिया जाता है, तब स्वाभाविक प्रश्न होता है कि उस प्रयास के साध्य और साधन क्या हैं। यह प्राय सवमान्य हैं कि अनुसधान का साध्य सत्य का अन्वेषण है। फिर इसके साधन क्या हैं? इस विषय पर मतभेद हो सकता है। परन्तु इतना तो सभी मानते हैं कि साधन को उपादान और निमित्त दो प्रमुख विभागो मे बाटा जा सकता है। अनुसधान के उपादान साधन तो तथ्य है, जिनके बिना अनुसधान का कोई आकार-प्रकार नही खडा हो सकता। अनुसधान के निमित्त साधनो मे प्रक्रिया और प्रविधि का समावेश है। ये अनुसधान को दिशा और प्रगति प्रदान करते हैं और उसको अनावश्यक प्रयास से बचाते है, परन्तु यह प्रारम्भ मे ही समझ लेना चाहिये कि प्रक्रिया और प्रविधि अनुसधान नहीं है, उसके साधन मात्र हैं। अत अनुसधान के अन्य आधारिक तत्त्वो पर ध्यान रखना आवश्यक है।

२—अन्वेषक और निर्देशक

अनुसधान के दो अनिवाय स्तम्भ हैं। उनमे-से प्रथम अन्वेषक है। अन्वेषक वह व्यक्ति होता है जिसमे विचिकित्सा हो तथा सत्य के प्रति रुचि एव जिज्ञासा। इन दो मूल प्रेरणाओ से रहित व्यक्ति को अनुसधान मे लगना या लगाना बडी भूल है। अन्वेषक या अनुसधान करने वाले की पात्रता पर सवप्रथम विचार होना चाहिये। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, अनुसधान-पूव योग्यताओ मे

विचिकित्सा और जिज्ञासा मूल प्रेरक शक्तियाँ है। अन्य योग्यताओ मे जीवन के विभिन्न क्षेत्रो का ताथ्यिक परिचय भी अनिवाय है। पुन बौद्धिक परिपक्वता, अनुभव, सूझ, प्रतिभा आदि भी अनुसधान के लिए बहुत ही आवश्यक है। अन्वेषक मे इन प्राथमिक योग्यताओ के बिना बहुत प्रयास करने पर भी अनुसधेय विषय और योग्यतम प्रदशक दोनो ही व्यथ सिद्ध होते है। अन्वेषक की योग्यता से प्रदशक का चुनाव कम महत्व का नही। यदि अन्वेषक की पात्रता विचारणीय और परीक्षा का विषय है तो प्रदशक की योग्यता उससे कम विचारणीय और परीक्ष्य नही। वास्तव मे निर्देशक तो पहले से परीक्षित और प्रसिद्ध होना चाहिये अनुसधान के विषय तथा उससे सम्बद्ध विषयो मे। यदि वह स्वय प्रबुद्ध और प्रसिद्ध नही है तो अन्वेषक का पथप्रदर्शन वह कैसे कर सकता है ? जैसे कोई स्वय मुक्त हुए बिना दूसरो को मुक्ति का माग नही बता सकता वैसे ही कोई प्रबुद्ध हुये बिना दूसरो को प्रबुद्ध नही बना सकता। निर्देशक मे अन्वेषक को पहचानने, उसको पूणत ग्रहण करने और उसको निश्चित विषय मे प्रवृत्त करने की क्षमता होनी चाहिये। यदि अन्वेषक मे यह क्षमता और योग्यता नही हे तो 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा' की ही उक्ति चरिताथ होगी।

३—अनुसधान का मूल लक्ष्य सत्य का अन्वेषण

आज का युग यात्रिक और प्राविधिक होने के कारण यह प्राय देखने मे आता है कि अनुसधान और अनुशीलन मे भी प्रविधि, प्रक्रिया और तथ्यो पर ही ज़ोर दिया जाता है। इसमे सत्य के अन्वेषण का महत्व कम हो जाता है और उसके बहिरग परीक्षण और प्राविधिक उपकरणो का महत्त्व बढ़ जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि अनुसधान का मूल लक्ष्य सत्य ही दृष्टि-पथ से ओझल हो जाता है और केवल प्रक्रिया और प्रविधि का श्रममात्र हाथ लगता है। अत अनुसधान प्रारम्भ करने के पूर्व ही समझ लेना चाहिये कि प्रक्रिया और प्रविधि का महत्व उसी सीमा तक है जहाँ तक ये सत्य की प्राप्ति मे सफल साधन बन सकते हैं।

४—सत्य और तथ्य

अनुसधान मे सत्य का अन्वेषण मूल लक्ष्य है। सत्य तक पहुँचने के लिये तथ्यो का पता लगाना और उनका सग्रह करना पडता है। सत्य और तथ्य दोनो ही अनुसधान मे आवश्यक है परन्तु दोनो का सापेक्ष महत्व स्थिर कर लेना चाहिये। तथ्य अनन्त हैं। वे सम्बन्ध और सादृश्य पर अवलम्बित है। अत सापेक्ष हैं। जब तक बहुसख्यक तथ्यो का पारस्परिक सम्बन्ध न निश्चित किया

जाय, उनसे कोई परिणाम नही निकाला जा सकता है। तथ्य है (अस्ति) किन्तु उसकी वास्तविकता सत्य पर अवलम्बित है। इसके विपरीत सत्य तथ्य के सहारे जाना जाता है किन्तु उसका अस्तित्व ताथ्यिक साधनो से निरपेक्ष है। वह स्वत वस्तु-सत्ता है। तथ्य उसके साधन मात्र हैं। तथ्य नही प्राप्त होने से सत्य का अभाव नही होता। सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से अथवा अनुभव से ताथ्यिक साधन के बिना भी सत्य की झाँकी मिल जाती है। तथ्य माग है, सत्य गन्तव्य। परन्तु यह अनिवाय नही कि एक-एक पग पैदल चलकर माग तय किया जाय। तथ्य का अत्यन्त आग्रह कभी कभी मार्ग का अवरोध करता है। जहाँ ताथ्यिक अन्तराल होता है, वहाँ सूझ और कल्पना की छलाँग से दो सुदूर तथ्यो को जोड कर सत्य तक पहुँचा जाता है। ऐसा नही कि किसी एक तथ्य के अभाव मे सत्य के एक किनारे पर ही कोई बैठा रह जाय।

५—तथ्य अनन्त हैं

जैसा कि पहले कहा गया है तथ्य अनन्त है। केवल उनके सकलन मात्र से सत्य का अनुसधान नही हो सकता। केवल तथ्य का सग्रह तो सूची अथवा वर्णनात्मक अनुक्रमणिका है। उसको अनुसधान की सज्ञा देना उचित नही। उसकी उपयोगिता है, किन्तु उसकी गरिमा अनुसधान के समकक्ष नही। इसीलिये अनुसधान करने वाले को केवल ताथ्यिक, सग्रही एव सूचीकार मात्र नहीं होना चाहिये। सत्य की निष्ठा द्वारा तथ्यो के बीच से अनुभवजन्य ज्ञान शक्ति को जागृत करना सत्य के अनुसधान के लिये आवश्यक है। तथ्यो का समुचित उपयोग भी इसके बिना नही हो सकता।

६—तथ्यवाद

अनुसधान मे तथ्य का अत्यधिक आग्रह तथ्यवाद है। तथ्यवादी की यह मान्यता है कि तथ्य के बिना अनुसधान हो ही नही सकता और तथ्य से अतिरिक्त कोई सत्य नही। सभवत इसका अथ यह हुआ कि जैसे यह कहा जाय कि बिना शरीर के आत्मा हो ही नही सकता अथवा शरीर के अतिरिक्त कोई आत्मा नाम का पदाथ है ही नही। यह वाद भौतिक विज्ञानवाद की प्रक्रिया से प्रारम्भ हुआ। आज भौतिक शास्त्रो मे भी उच्चकोटि के चिन्तन से यह प्रक्रिया हिल चुकी है। चिन्तन-प्रधान शास्त्रो मे तथ्यवाद वास्तव मे जडवाद है। तथ्यो का सपिण्डीकरण जब तक अनुभव और तज्जन्य सत्य से नही होता तब तक तथ्य जड है और उनका महत्व प्रासगिक है।

के अनुसार चित्र अथवा मूर्ति के समान सपूर्ण विषय का स्वरूपाकन पहले मानस मे होता है और आगे चलकर उसका सयोजन कागज़ पर पीछे होता है। पहले जिज्ञासा और चिन्तन के द्वारा भावनायें और कल्पनाये मन मे प्राय निश्चित हो जाती हैं, सग्रह, सयोजन और ग्रथन क्रमश पीछे होते हैं। इसके अनुसार सृष्टि पहले मानसी होती है और पुन भौतिकी। निष्कष और मूल्य भी प्राय पहले ही मानसिक धरातल पर निश्चित हो जाते है, उनका निदर्शन, समर्थन और पुष्टीकरण पीछे होता है। दूसरे सम्प्रदाय के अनुसार तथ्यो के सग्रह और सयोजन से ही क्रमश रूप का सृजन होता है। अर्थात् रूप पूणत ताथ्यिक और विकसन अथवा परिवतनशील है। निष्कष और मूल्य भी इसी प्रक्रिया से निष्पन्न होते है। रूप, निष्कष और मूल्य की कल्पना पहले से ही कर लेना एक प्रकार का पूर्वाग्रह है जो सत्य के अनुसधान और प्राप्ति मे बाधक है। ये दोनो ही एकान्तिक सम्प्रदाय हैं। वस्तुत अनुसधान मे कला-पक्ष और विज्ञान-पक्ष दोनो को एक दूसरे से पूणत अलग नही किया जा सकता। प्राथमिक सूझ, अन्तप्रवेश और प्रतिभासिकता कला के कार्य हैं। इनके बिना अनुसधान मे रुचि और प्रवेश सभव नही। वैज्ञानिक पद्धति से सग्रह सयोजन और निष्कर्ष पीछे आते है। पुन वे एक दूसरे को प्रभावित करते जाते हैं। विशेषकर सामाजिक शास्त्रो के तथ्य और विषय मानवीय मनोविकारो से इतने प्रभावित होते हैं कि उनके सम्बन्ध और विकास की कोई निश्चित, सीधी तथा स्थिर रेखा नही खीची जा सकती। उनमे मनोवैज्ञानिक तत्व इतने अधिक सन्निहित हैं कि उनके अन्वेषण और सयोजन मे कलात्मक पक्ष प्रबल हो जाता है, यद्यपि बाह्य प्रक्रिया मे वैज्ञानिक पद्धति की उपयोगिता का परित्याग नही किया जा सकता।

१०—प्रविधि के प्रारम्भिक चरण

(१) **विषय की रूप रेखा**—सशोधन के प्रारम्भ मे ही विषय की एक अस्थायी रूप-रेखा बना लेना आवश्यक है। इससे सामग्री सकलन की सीमा निर्धारित हो जाती हे और सामग्री-सकलन के समय ही सामग्री का विषयगत वर्गीकरण अपने आप ही होता जाता है। यह अनिवाय नही कि मूल रूपरेखा अन्त तक बनी रहे। प्राप्त सामग्री और तथ्यो के प्रकाश मे उसमे आवश्यकतानुसार परिवर्तन हो सकता है। पहली सहायता जो निदेशक अन्वेषक को दे सकता है वह है रूप रेखा के निर्माण मे। इस मूल रूप-रेखा के अभाव मे अन्वेषक को अनावश्यक रूप से भटकना पडता है। वह या तो अपने विषय के किनारे के ककड-पत्थर इकट्ठा करता रहता है या उसके भीतर फिसल कर गोते लगाने

लगता है और घबडा जाने के कारण उसके कुछ हाथ नही लगता । आवश्यक है कि वह किसी माप दण्ड के सहारे सीमित क्षेत्र मे आत्म विश्वास के साथ अपने विषय का अवगाहन कर सके । इस स्थिति मे जागरूकता और सावधानी के साथ अपने विषय से सम्बद्ध तथ्यो का सकलन हो सकता है । कुछ लोग प्रारम्भिक रूप-रेखा को इसलिये अनावश्यक समझते है कि इससे एक प्रकार का पूर्वाग्रह हो जाता है किन्तु यह आपत्ति तो किसी भी योजना बद्ध काय के सम्बन्ध मे की जा सकती है । वास्तव मे यह रूप-रेखा प्राथमिक होती है, अन्तिम नही। अत पूर्वाग्रह का प्रश्न नही उठता ।

(२) **योजना**—योजना का अथ है अनुसधान-काय के विविध स्तरो और श्रेणियो का नियोजन । इसमे काल-विभाग और काय विभाग दोनो का समावेश है । काय की प्रगति वृद्धिमती और नियत्रित रखने के लिये यह आवश्यक है। अनुसधान का काय प्राय एक निश्चित विषय पर और निश्चित समय के भीतर करना होता है। अत काय क्रमिक रूप से उत्तरोत्तर आगे बढना चाहिये। जो अन्वेषक योजना- बद्ध काय नही करते वे प्राय समय के भीतर अपना काय समाप्त नही कर पाते और कभी कभी तो काय समाप्त किये बिना भाग खडे होते हैं ।

(३) **स्रोत तथा सदर्भ-ग्रन्थसूची**—रूप रेखा के साथ ग्रथ सूची भी तैयार होनी चाहिये । वास्तव मे सशोधन-काय की दो आधार-शिलाये है (अ) रूप-रेखा और (आ) ग्रथ-सूची । किन स्रोतो और मौलिक ग्रन्थो से सामग्री सकलित करनी है यह अन्वेषक को कार्यारम्भ मे ही ज्ञात होना चाहिये । रूप-रेखा की ही भाँति यह सूची भी प्राथमिक होती है, अतिम नही । आवश्यकतानुसार इसमे भी परिवधन और सशोधन हो सकता है । इस सूची के सहारे सामग्री-सकलन का काय क्रमिक और विधिवत् होता है । यह सूची तिथि-क्रमिक, विषयगत और वर्गीकृत होनी चाहिये। यह काय भी निर्देशक के निर्देश और सहायता से होना चाहिये । इस सूची के अभाव मे काय विश्रृखलित तथा शक्ति एव समय का क्षय होता है ।

११—कार्यारम्भ

(१) **सामग्री-सकलन**—सामग्री अथवा तथ्य अनुसधान के उपादान साधन है । बिना तथ्य के अनुशीलन हो नही सकता । अत सामग्री-सकलन अनुसधान का प्राथमिक आधार है । अनुसधान के लिये निश्चित समय का एक ठोस भाग सामग्री-सकलन मे व्यय होता है । सामग्री-सकलन का काय प्राय समाप्त होने

पर ही सशोधन के अन्य अगो का काय प्रारम्भ होता है। विषय की सीमा के अन्तगत सामग्री-सकलन होता है, किन्तु समालोचना और तुलना के लिये पारिपार्श्विक, समानान्तर, समसामयिक तथा अन्य प्रकार से सबद्ध सामग्री भी एकत्रित की जाती है। यह आवश्यक नही कि जितनी सामग्री इकट्ठी की जाती है, वह सभी काम मे आ जाय। कुछ सामग्री छूट जाती है। परन्तु सभी के प्रकाश मे अनुशीलन का कार्य चलता है।

(२) **पुस्तकालय और सग्रहालय**—सामग्री-सकलन के लिये पुस्तकालय और सग्रहालय का उपयोग करना पडता है। किसी पुस्तकालय अथवा सग्रहा-लय का उपयोग करने के पहले पुस्तको अथवा सगृहीत वस्तुओ की सूची देखना आवश्यक है। अनुसधान विषय के लिये उपयोगी सामग्री की अपनी निजी सूची अन्वेषक को बनानी चाहिये, जो क्रमिक और वर्गीकृत हो। इसके पश्चात् सामग्री-सकलन का काय क्रमश प्रारम्भ करना चाहिये।

(३) **अभ्यास और उपयोग**—शास्त्रीय अनुसधान मे अभ्यास और उपयोग के लिये अ तद्द ष्टि दोनो आवश्यक है। नियमित अभ्यास से काय मे कुशलता और कुशलता से सरलता आती है। अभ्यास से उपयोगी सामग्री की पहचान और उसके मूल्याकन दोनो मे शीघ्रता होती है। बीच-बीच मे कार्य छोडने—अनभ्यास—से ग्रहण-शक्ति शिथिल और विचारो का सामजस्य विषम हो जाता है। अभ्यास के साथ ही सामग्री का उपयोग सम्बद्ध है। क्रमश सामग्री-सकलन के साथ ही यह पता लगता जाना चाहिये कि उसका कौन-सा भाग कितना उपयोगी है, जिससे अन्त मे पूरी सामग्री का ऊहापोह न करना पडे। इस प्रकार के मानसिक सम्पर्क से वाछित सामग्री शीघ्र सामने प्रस्तुत हो जाती है।

(४) **सग्रह और टिप्पणी**—पुस्तकालय तथा सग्रहालय मे सग्रह और टिप्पणी का काय साथ-साथ चलना चाहिये। प्रत्येक सगृहीत सामग्री के साथ आवश्यक टिप्पणी होनी चाहिये। उसकी सगति, उपयोगिता, समालोचना आदि से सम्बद्ध बातो को अन्वेषक उचित स्थान पर टीप ले, क्योकि जो उद्भावना सामग्री सकलन के समय होती है वह सभवत आगे भविष्य मे न हो। इस कार्य मे बहुत ही श्रम, सावधानी और धैय की आवश्यकता होती है।

१२—पत्र-पद्धति

सामग्री-सकलन के लिये सबसे उपयोगी और अद्यतन पद्धति पत्र-पद्धति है। इसका अर्थ है कि जिल्दबद्ध ग्रन्थ अथवा पुस्तकाकार कागज पर सामग्री-सकलन

निर्मित होता। इसलिए वर्गीकरण के पश्चात् तथ्यो का सयोजन और निर्माण प्रारम्भ होता है। वर्गीकृत तथ्यो मे भी एक तथ्य का दूसरे के साथ सम्बन्ध और एक विचार या भाव समूह की शृखला दूसरे से जोडना परम आवश्यक है। व्यक्ति, घटना, विचार, वातावरण सभी के निर्माण मे सपिण्डीकरण और शृखलन की प्रक्रिया अनिवाय है। इसमे तथ्यो का परिष्कार और निबन्धन होता जाता है। यह कार्य क्रमश होता है। अन्त मे पूरा निबन्ध प्रस्थापना के रूप मे प्रस्तुत होता है।

१५—तुलना और समीक्षा

किसी स्थापना की परिपुष्टि केवल सयोजन और निर्माण-मात्र से नही होती। जो केवल एक ही विषय और उससे सम्बद्ध कुछ सीमित तथ्यो को जानता है वह उस विषय को पूरा नही जानता। अत ज्ञान की परिपुष्टि एव सम्पुष्टि के लिये तुलना और समीक्षा की आवश्यकता होती है। तुलना देश और काल दोनो मे होती है। प्रस्तुत प्रस्थापना के तथ्यो के सदृश समानान्तर या समान तथ्य विभिन्न देशो मे मिलते है। उनसे प्रस्तुत विषय की तुलना से समता, अभेद, पाथक्य, विषमता आदि के अध्ययन से विषय का सर्वांगीण निरीक्षण तथा पयवेक्षण हो जाता है। जिस प्रकार विभिन्न देशो के समसामयिक तथ्यो से तुलना की जाती है, उसी प्रकार विभिन्न काल के सदृश अथवा समान तथ्यो से भी प्रस्तुत तथ्यो का मिलान विषय पर प्रकाश डालता है। वास्तव मे ज्ञान का विस्तार देश और काल दो ही दिशाओ मे होता है। इसलिए इन्ही दो दिशाओ मे प्रस्तुत विषय का प्रक्षेप और तुलना हो सकती है। प्रस्थाप्य विषय की समीक्षा भी उतनी ही आवश्यक है जितनी तुलना। अनुसधान की सभी प्रक्रियाओ और स्तरो के गुण-दोष, बलाबल, उपयोगिता-अनुपयोगिता, औचित्य-अनौचित्य का पूण विचार समीक्षा मे सन्निहित है। वस्तुत अनुसधान-काय मे निर्माण, तुलना तथा समीक्षा तीन प्रमुख श्रेणियाँ हैं और तीनो के समुचित एव सतुलित स्थान निश्चित होने चाहियें।

१६—उपसहार

प्रत्येक अनुसधान काय के अन्त मे उपसहार आवश्यक है। इसमे प्रथमत अनुसन्धान का सक्षिप्त समाहार दिया जाता है। पुन उपलब्धि एव न्यूनता, सफलता और असफलता पर विचार किया जाता है। अन्त मे पूर्वापर सकेत होता है। इसमे विषय के अतीत का परिचय और भविष्य मे इसकी सभावनाओ की ओर निर्देश होता है। उपसहार मे प्रस्थापना के मुख्य निष्कर्षों का एक बार

७—महत्वपूर्ण तथ्य ही सग्राह्य

अनन्त तथ्यो मे सभी महत्वपूर्ण और अनिवाय नही। इसीलिए तथ्यो के सग्रह मे चुनाव का प्रश्न महत्व रखता है। अनुसधानकर्ता को यह जानना आवश्यक है, उसके अनुशीलन के लिये कौन तथ्य आवश्यक और कौन अनावश्यक है तथा कौन तथ्य अधिक महत्व का और कौन अपेक्षाकृत कम महत्व का है। इस परिस्थिति मे सारगर्भित तथ्य ही एकत्रित किये जा सकते है। पुनरावृत्त तथ्यो का सग्रह केवल सूचनाथ हो सकता है, उनसे किसी नवीन सत्य का उद्-घाटन नही हो सकता। सूचनाथ भी उनकी सख्या सीमित होनी चाहिये। तथ्यो की वरीयता और चुनाव की समस्या अनुसधान मे अपना विशिष्ट स्थान रखती है।

८—विषय का निर्वाचन तथा निर्धारण

तथ्य की भाँति विषय अनन्त है और सभी समान महत्व के नही। किसी का महत्व मौलिक अथवा प्राथमिक, किसी का आनुषगिक अथवा प्रासगिक, किसी का पूरक अथवा समथक तथा किसी का पुनरावृत्तिमूलक अथवा अना-वश्यक। अनुसधानकर्ता के सामने समय, अवसर और सुविधाये सीमित है। अत विषय के चुनाव के समय इस बात पर ध्यान रखना चाहिये कि वह जीवन अथवा ज्ञान के किसी महत्वपूर्ण अग पर प्रकाश डालता है या नही। अनुसधान सग्रहालय नही, शास्त्र है। अत शास्त्र की मर्यादा, नियम और क्रम के अनुसार ही विषय का चुनाव होना चाहिये। शास्त्र की दृष्टि से विषय का महत्व होना आवश्यक है। विषय का चुनाव हो जाने के बाद उसके निर्धारण का प्रश्न आता है। विषय का क्षेत्र और सीमा निश्चित होनी चाहिये जिसके भीतर विषय मे पूरे प्रवेश के साथ काम किया जा सके। निर्धारण न होने से विषय और तथ्य बाढ के पानी के समान यत्र तत्र-सवत्र छा जाते है और विचार और चिन्तन की मूल धारा खो सी जाती है। इसमे शोधार्थी के समय और शक्ति का अनावश्यक क्षय होता है। वह धरातल पर फैलता जाता है, किन्तु उसकी गभीरता जाती रहती है। उसका सग्रह पक्ष बढता जाता है, किन्तु सिद्धान्त पक्ष दुबल और क्षीण हो जाता है। अत अनुसधान मे निर्धारण भी उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना निर्वाचन।

९—प्रक्रिया का स्वरूप

प्रक्रिया का स्वरूप क्या होना चाहिये, इस सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभद है। मुख्यत उनके दो सम्प्रदाय हैं—(१) कलात्मक और (२) वैज्ञानिक। पहले

के अनुसार चित्र अथवा मूर्ति के समान सपूर्ण विषय का स्वरूपाकन पहले मानस मे होता है और आगे चलकर उसका सयोजन कागज पर पीछे होता है। पहले जिज्ञासा और चिन्तन के द्वारा भावनायें और कल्पनाये मन मे प्राय निश्चित हो जाती हैं, सग्रह, सयोजन और ग्रथन क्रमश पीछे होते है। इसके अनुसार सृष्टि पहले मानसी होती है और पुन भौतिकी। निष्कष और मूल्य भी प्राय पहले ही मानसिक धरातल पर निश्चित हो जाते है, उनका निदर्शन, समथन और पुष्टीकरण पीछे होता है। दूसरे सम्प्रदाय के अनुसार तथ्यो के सग्रह और सयोजन से ही क्रमश रूप का सृजन होता है। अर्थात् रूप पूर्णत ताथ्यिक और विकसन अथवा परिवतनशील है। निष्कष और मूल्य भी इसी प्रक्रिया से निष्पन्न होते है। रूप, निष्कर्ष और मूल्य की कल्पना पहले से ही कर लेना एक प्रकार का पूर्वाग्रह है जो सत्य के अनुसधान और प्राप्ति मे बाधक है। ये दोनो ही एकान्तिक सम्प्रदाय है। वस्तुत अनुसधान मे कला-पक्ष और विज्ञान-पक्ष दोनो को एक दूसरे से पूर्णत अलग नही किया जा सकता। प्राथमिक सूझ, अन्तप्रवेश और प्रतिभासिकता कला के काय है। इनके बिना अनुसधान मे रुचि और प्रवेश सभव नही। वैज्ञानिक पद्धति से सग्रह सयोजन और निष्कर्ष पीछे आते है। पुन वे एक दूसरे को प्रभावित करते जाते हैं। विशेषकर सामाजिक शास्त्रो के तथ्य और विषय मानवीय मनोविकारो से इतने प्रभावित होते हैं कि उनके सम्बन्ध और विकास की कोई निश्चित, सीधी तथा स्थिर रेखा नही खीची जा सकती। उनमे मनोवैज्ञानिक तत्व इतने अधिक सन्निहित हैं कि उनके अन्वेषण और सयोजन मे कलात्मक पक्ष प्रबल हो जाता है, यद्यपि बाह्य प्रक्रिया मे वैज्ञानिक पद्धति की उपयोगिता का परित्याग नही किया जा सकता।

१०—प्रविधि के प्रारम्भिक चरण

(१) **विषय की रूप-रेखा**—सशोधन के प्रारम्भ मे ही विषय की एक अस्थायी रूप-रेखा बना लेना आवश्यक है। इससे सामग्री सकलन की सीमा निर्धारित हो जाती है और सामग्री-सकलन के समय ही सामग्री का विषयगत वर्गीकरण अपने आप ही होता जाता है। यह अनिवाय नही कि मूल रूपरेखा अन्त तक बनी रहे। प्राप्त सामग्री और तथ्यो के प्रकाश मे उसमे आवश्यकता-नुसार परिवतन हो सकता है। पहली सहायता जो निर्देशक अन्वेषक को दे सकता है वह है रूप-रेखा के निर्माण में। इस मूल रूप-रेखा के अभाव मे अन्वे-षक को अनावश्यक रूप से भटकना पडता है। वह या तो अपने विषय के किनारे के ककड-पत्थर इकट्ठा करता रहता है या उसके भीतर फिसल कर गोते लगाने

लगता है और घबडा जाने के कारण उसके कुछ हाथ नही लगता। आवश्यक है कि वह किसी माप दण्ड के सहारे सीमित क्षेत्र मे आत्म विश्वास के साथ अपने विषय का अवगाहन कर सके। इस स्थिति मे जागरूकता और सावधानी के साथ अपने विषय से सम्बद्ध तथ्यो का सकलन हो सकता हे। कुछ लोग प्रारम्भिक रूप-रेखा को इसलिये अनावश्यक समझते है कि इससे एक प्रकार का पूर्वाग्रह हो जाता है किन्तु यह आपत्ति तो किसी भी योजना बद्ध काय के सम्बन्ध मे की जा सकती है। वास्तव मे यह रूप-रेखा प्राथमिक होती है, अतिम नही। अत पूर्वाग्रह का प्रश्न नही उठता।

(२) **योजना**—योजना का अथ है अनुसधान काय के विविध स्तरो और श्रेणियो का नियोजन। इसमे काल-विभाग और काय विभाग दोनो का समावेश है। काय की प्रगति वृद्धिमती और नियत्रित रखने के लिये यह आवश्यक है। अनुसधान का काय प्राय एक निश्चित विषय पर और निश्चित समय के भीतर करना होता है। अत काय क्रमिक रूप से उत्तरोत्तर आगे बढना चाहिये। जो अन्वेषक योजना- बद्ध काय नही करते वे प्राय समय के भीतर अपना कार्य समाप्त नही कर पाते और कभी कभी तो काय समाप्त किये बिना भाग खडे होते हैं।

(३) **स्रोत तथा सदर्भ-ग्रन्थसूची**—रूप-रेखा के साथ ग्रथ सूची भी तैयार होनी चाहिये। वास्तव मे सशोधन-काय की दो आधार-शिलाये है (अ) रूप-रेखा और (आ) ग्रथ-सूची। किन स्रोतो और मौलिक ग्रन्थो से सामग्री सकलित करनी है यह अन्वेषक को कार्यारम्भ मे ही ज्ञात होना चाहिये। रूप-रेखा की ही भाँति यह सूची भी प्राथमिक होती है, अतिम नही। आवश्यकतानुसार इसमे भी परिवर्धन और सशोधन हो सकता है। इस सूची के सहारे सामग्री-सकलन का कार्य क्रमिक और विधिवत् होता है। यह सूची तिथि-क्रमिक, विषयगत और वर्गीकृत होनी चाहिये। यह काय भी निर्देशक के निर्देश और सहायता से होना चाहिये। इस सूची के अभाव मे काय विश्रृखलित तथा शक्ति एव समय का क्षय होता है।

११—कार्यारम्भ

(१) **सामग्री-सकलन**—सामग्री अथवा तथ्य अनुसधान के उपादान साधन हैं। बिना तथ्य के अनुशीलन हो नही सकता। अत सामग्री-सकलन अनुसधान का प्राथमिक आधार है। अनुसधान के लिये निश्चित समय का एक ठोस भाग सामग्री-सकलन मे व्यय होता है। सामग्री-सकलन का काय प्राय समाप्त होने

पर ही सशोधन के अन्य अगो का काय प्रारम्भ होता है। विषय की सीमा के अन्तर्गत सामग्री-सकलन होता है, किन्तु समालोचना और तुलना के लिये पारिपार्श्विक, समानान्तर, समसामयिक तथा अन्य प्रकार से सबद्ध सामग्री भी एकत्रित की जाती है। यह आवश्यक नही कि जितनी सामग्री इकट्ठी की जाती है, वह सभी काम मे आ जाय। कुछ सामग्री छूट जाती है। परन्तु सभी के प्रकाश मे अनुशीलन का कार्य चलता है।

(२) **पुस्तकालय और सग्रहालय**—सामग्री-सकलन के लिये पुस्तकालय और सग्रहालय का उपयोग करना पडता है। किसी पुस्तकालय अथवा सग्रहालय का उपयोग करने के पहले पुस्तको अथवा सगृहीत वस्तुओ की सूची देखना आवश्यक है। अनुसधान विषय के लिये उपयोगी सामग्री की अपनी निजी सूची अन्वेषक को बनानी चाहिये, जो क्रमिक और वर्गीकृत हो। इसके पश्चात् सामग्री-सकलन का काय क्रमश प्रारम्भ करना चाहिये।

(३) **अभ्यास और उपयोग**—शास्त्रीय अनुसधान मे अभ्यास और उपयोग के लिये अ तद्द ष्टि दोनो आवश्यक है। नियमित अभ्यास से काय मे कुशलता और कुशलता से सरलता आती है। अभ्यास से उपयोगी सामग्री की पहचान और उसके मूल्याकन दोनो मे शीघ्रता होती है। बीच-बीच मे कार्य छोडने—अनभ्यास—से ग्रहण-शक्ति शिथिल और विचारो का सामजस्य विषम हो जाता है। अभ्यास के साथ ही सामग्री का उपयोग सम्बद्ध है। क्रमश सामग्री-सकलन के साथ ही यह पता लगता जाना चाहिये कि उसका कौन-सा भाग कितना उपयोगी है, जिससे अन्त मे पूरी सामग्री का ऊहापोह न करना पडे। इस प्रकार के मानसिक सम्पक से वाछित सामग्री शीघ्र सामने प्रस्तुत हो जाती है।

(४) **सग्रह और टिप्पणी**—पुस्तकालय तथा सग्रहालय मे सग्रह और टिप्पणी का काय साथ-साथ चलना चाहिये। प्रत्येक सगृहीत सामग्री के साथ आवश्यक टिप्पणी होनी चाहिये। उसकी सगति, उपयोगिता, समालोचना आदि से सम्बद्ध बातो को अन्वेषक उचित स्थान पर टीप ले, क्योकि जो उद्भावना सामग्री सकलन के समय होती है वह सभवत आगे भविष्य मे न हो। इस काय मे बहुत ही श्रम, सावधानी और धैर्य की आवश्यकता होती है।

१२—पत्र-पद्धति

सामग्री-सकलन के लिये सबसे उपयोगी और अद्यतन पद्धति पत्र-पद्धति है। इसका अथ है कि जिल्दबद्ध ग्रन्थ अथवा पुस्तकाकार कागज़ पर सामग्री सकलन

न करके स्वतत्र अथवा छुट्टे पुर्जों पर ही उसे अलग-अलग अकित करना चाहिये। इसका लाभ यह है कि प्रत्येक पुर्जे को आवश्यकतानुसार यथास्थान रखा जा सकता है, जबकि ग्रन्थाकार सामग्री को बार बार उलटना पडता है, अथवा काटकर या पुन प्रतिलिपि करके स्थानान्तरित करना होता है। एक शोध-निबन्ध के लिये कई सहस्र पुर्जों की आवश्यकता होती हे। ये पुर्जे एक आकार और मोटे तथा टिकाऊ कागज के होने चाहिये। पुर्जे का ऊपरी बाया कोना पच किया होना चाहिये जिससे एक विषय के पुर्जे एकत्र बाँधे जा सके। पुर्जे पर विषय, शीर्षक, उपशीषक, ग्रन्थ सदभ, अवतरण, टिप्पणी आदि के लिये स्थान निश्चित होना चाहिये। पुर्जे पर इनका अकन निम्नलिखित प्रकार से हो सकता है

विषय	ग्र थ
शीषक	सदर्भ
उपशीषक	
अवतरण	
टिप्पणी	

१३—वर्गीकरण

पुर्जों पर अपेक्षित सामग्री सकलित हो जाने पर वर्गीकरण प्रारम्भ होता है। पत्र-पद्धति के कारण यह काय बहुत ही सुलभ हो जाता है। पुर्जों पर विषय, शीषक एव उपशीषक का निर्देश होने से प्राय स्वत वर्गीकरण हो जाता है। वर्गीकरण की प्राय दो पद्धतियाँ होती हैं—(१) गणितीय अथवा आकिक और (२) अगागिक अथवा सेन्द्रिय। प्रथम शुद्ध गणितीय पद्धति का उपयोग भौतिक शास्त्रो के निर्जीव पदार्थों के वर्गीकरण मे किया जाता है। मानव-व्यापारो अथवा तथ्यो के वर्गीकरण मे इसका पूणत उपयोग नही हो सकता। अत मानवीय शास्त्रो के तथ्यो के वर्गीकरण मे अगागिक अथवा सेन्द्रिय पद्धति का उपयोग किया जाता है। मानवीय तथ्यो के अनुशीलन मे अगागिभाव का ध्यान रखना आवश्यक है। इसके बिना निबन्ध की स्थापना मे प्राण और मूल्य की सृष्टि नही होती।

१४—सयोजन और निर्माण

वर्गीकरण विश्लेषणात्मक प्रक्रिया है। इसके द्वारा निबन्ध का अस्थिपजर

निर्मित होता। इसलिए वर्गीकरण के पश्चात् तथ्यो का सयोजन ग्रौर निर्माण प्रारम्भ होता है। वर्गीकृत तथ्यो मे भी एक तथ्य का दूसरे के साथ सम्बन्ध ग्रौर एक विचार या भाव समूह की शृखला दूसरे से जोडना परम ग्रावश्यक है। व्यक्ति, घटना, विचार, वातावरण सभी के निर्माण मे सपिण्डीकरण ग्रौर शृखलन की प्रक्रिया ग्रनिवार्य है। इसमे तथ्यो का परिष्कार ग्रौर निबन्धन होता जाता है। यह काय क्रमश होता है। ग्रन्त मे पूरा निबन्ध प्रस्थापना के रूप मे प्रस्तुत होता है।

१५—तुलना ग्रौर समीक्षा

किसी स्थापना की परिपुष्टि केवल सयोजन ग्रौर निर्माण-मात्र से नही होती। जो केवल एक ही विषय ग्रौर उससे सम्बद्ध कुछ सीमित तथ्यो को जानता है वह उस विषय को पूरा नही जानता। ग्रत ज्ञान की परिपुष्टि एव सम्पुष्टि के लिये तुलना ग्रौर समीक्षा की ग्रावश्यकता होती है। तुलना देश ग्रौर काल दोनो मे होती है। प्रस्तुत प्रस्थापना के तथ्यो के सदृश समानान्तर या समान तथ्य विभिन्न देशो मे मिलते है। उनसे प्रस्तुत विषय की तुलना से समता, ग्रभेद, पाथक्य, विषमता ग्रादि के ग्रध्ययन से विषय का सर्वागीण निरीक्षण तथा पयवेक्षण हो जाता है। जिस प्रकार विभिन्न देशो के समसामयिक तथ्यो से तुलना की जाती है, उसी प्रकार विभिन्न काल के सदृश ग्रथवा समान तथ्यो से भी प्रस्तुत तथ्यो का मिलान विषय पर प्रकाश डालता है। वास्तव मे ज्ञान का विस्तार देश ग्रौर काल दो ही दिशाग्रो मे होता है। इसलिए इन्ही दो दिशाग्रो मे प्रस्तुत विषय का प्रक्षेप ग्रौर तुलना हो सकती है। प्रस्थाप्य विषय की समीक्षा भी उतनी ही ग्रावश्यक है जितनी तुलना। ग्रनुसधान की सभी प्रक्रियाग्रो ग्रौर स्तरो के गुण-दोष, बलाबल, उपयोगिता-ग्रनुपयोगिता, ग्रौचित्य-ग्रनौचित्य का पूण विचार समीक्षा मे सन्निहित है। वस्तुत ग्रनुसधान-कार्य मे निर्माण, तुलना तथा समीक्षा तीन प्रमुख श्रेणियाँ हैं ग्रौर तीनो के समुचित एव सतुलित स्थान निश्चित होने चाहियें।

१६—उपसहार

प्रत्येक ग्रनुसधान काय के ग्रन्त मे उपसहार ग्रावश्यक है। इसमे प्रथमत ग्रनुसन्धान का सक्षिप्त समाहार दिया जाता है। पुन उपलब्धि एव न्यूनता, सफलता ग्रौर ग्रसफलता पर विचार किया जाता है। ग्रन्त मे पूर्वापर सकेत होता है। इसमे विषय के ग्रतीत का परिचय ग्रौर भविष्य मे इसकी सभावनाग्रो की ग्रोर निर्देश होता है। उपसहार मे प्रस्थापना के मुख्य निष्कर्षों का एक बार

पुन निरीक्षण और समीक्षण भी आवश्यक है। इस प्रकार उपसहार पूरे अनुसधान काय का सक्षेप मे परिचायक है।

१७—लेखन

निबन्ध का सबसे अधिक कलात्मक अग लेखन है। जिस प्रकार चित्रकार तूलिका से अतिम रग भरने के समय अपनी कृति को उच्चतम अभिव्यक्ति एव व्यजना प्रदान करता है, उसी प्रकार अनुसधान करने वाला लेखक लिखने के समय अपने सम्पूर्ण निर्माण और विमश को अधिकतम अभिव्यजक बनाता है। इसके पूव प्रक्रिया और प्रविधि का अधिकाश अग यान्त्रिक होना है। लेखन के समय ही उसे पूरा रूप और अभिव्यजना प्राप्त होती है। निबन्ध के लेखन के समय उसके निम्नाकित अगो पर विशेष ध्यान देना चाहिये

(१) **भाषा**—वैसे तो सभी प्रकार के निबन्ध के लिये सुबोध और प्राजल भाषा की आवश्यकता होती है। भाषा का सबसे बडा गुण है कि वह विचार-सम्प्रेषण और विचार विमश एव विचार-विनिमय मे सक्षम हो। इसके बिना भाषा शब्द-समूहमात्र एव बध्या है। परन्तु अनुसधान की भाषा की अपनी एक निजी विशेषता होती है। उसके लिये सुबोधता और प्राजलता ही पर्याप्त नही। उसके लिये सर्वगम्य होना भी अनिवार्य नही। वह परिष्कृत किन्तु साथ ही शास्त्रीय, लाक्षणिक, पारिभाषिक, सतुलित एव परिमित होनी चाहिये। इसमे न शब्द बाहुल्य होना चाहिये न शब्द दारिद्रय। वह अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असभव-दोष से मुक्त होनी चाहिये। यह कहना अनावश्यक है कि अनुसधान की भाषा व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध और परिमार्जित तथा कला के गुणो से युक्त होनी चाहिये।

(२) **शैली**—लेखन मे प्राय दो प्रकार की शैलियाँ पायी जाती है। (१) व्यक्तिगत एव (२) वस्तुगत। क[illegible] की भाषा प्राय व्यक्तिगत होती है अर्थात् उसमे लेखक का व्यक्तित्व तथा [illegible] का पूर्ण [illegible] कलाकार के रूप मे अभिव्यक्त होता है। अनुसधान ने तथ्यो और [illegible] रण मे अगागिक [illegible] के कारण लेखन की शैली वस्तुगत होती है, यद्यपि इस [illegible]थ्यो के अनुशील[illegible] [illegible] अभाव नही होता। इसका अथ यह है कि अनुसध[illegible] की शैली का सम्बन्ध व्यक्ति से अधिक न होकर तथ्य और सत्य से अधिक होता है। व्यक्ति-निरपेक्ष होने के कारण इस प्रकार की शैली को "अपौरुषेय" (पुरुष विशेष से असम्बद्ध) कहा जा सकता है।

(३) **विषय-नियोजन**—विषय के विविध अगो का नियोजन [illegible]

होना चाहिये कि एक सतुलित और सुव्यवस्थित स्थापना प्रस्तुत हो सके। इसके अभाव मे अनुसधान के तथ्य बिखरे और विमर्श एव निष्कष असम्बद्ध दिखायी पडते है। अनुसधान की अन्तर्सगति और कलात्मक व्यक्तित्व के लिये विषय का सुचिंतित नियोजन परम आवश्यक है।

(४) **तात्थ्यिक ईमानदारी**—तथ्यो के सग्रह और उपयोग दोनो मे अनुसधान-कर्ता को बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है। यथातथ्य अनुसधान की प्राथमिक आवश्यकता है। तथ्य अपने वास्तविक और शुद्ध रूप मे प्रयुक्त होना चाहिये। लेखक के पूर्वाग्रह के कारण अपने पूर्व निश्चित विचारो को पुष्ट करने के लिये उसमे किसी प्रकार का परिवतन या परिवधन नही होना चाहिये। ऐसा नही होने से सम्पूर्ण स्थापना ही अशुद्ध और भ्रान्त होगी, अनुसधान के द्वारा किसी सत्य पर पहुँचना असभव होगा।

(५) **सयुक्तिक निष्कष**—प्राप्त तथ्यो के सग्रह और सयोजन से जो भी निष्कष निकाले जायें वे युक्तियुक्त होने चाहिये। ऐसा कोई भी निष्कष नही होना चाहिये, जिसके लिए पर्याप्त प्रमाण और युक्ति न हो। ऐसा भी कोई निष्कष नही होना चाहिये, जिसकी सदभ विशेष मे अपेक्षा न हो। अन्वेषक के सम्मुख यह सूक्ति सदा उपस्थित रहनी चाहिये "बिना मूल के कुछ न लिखा जाय, बिना अपेक्षा के कुछ न कहा जाय।" किसी भी प्रस्थापना का सैद्धान्तिक महत्व दो ही वस्तुओ पर अवलम्बित है—(१) तात्थ्यिक ईमानदारी और (२) सयुक्तिक निष्कष। कोई भी अन्वेषक इनको छोडकर आगे नही चल पकता।

लेखन की उपयु क्त मुख्य आवश्यकताओ के साथ सामान्य उपकरणो की आवश्यकता भी होती है, जिससे लेखन मे लाघव, व्याख्या, परिपुष्टि, परिसीमा आदि का समावेश होता है।

(६) **सकेत-सारिणी**—निबन्ध मे [illegible] त और सदभ-ग्रथो का बार-बार उल्लेख करना पडता है। [illegible]त होने चाहि उल्लेख समय और कागज का व्यथ दुरुपयोग है [illegible] १६—[illegible]परा विकसित हुई। अक्षर-क्रम से स्वीकृत सक्षेप पद्धति से सकेत-[illegible] का निर्माण होना चाहिये और इसी का उपयोग निबन्ध मे यथास्थान करना चाहिये।

(७) **पाद-टिप्पणी**—मूल स्रोत या पाठ, सदभ, पाठान्तर, व्याख्या अथवा अन्य कोई आवश्यक सूचना पाद टिप्पणी मे दी जाती है। निबन्ध के बीच मे देने से, आवश्यक होने पर भी, उसके प्रवाह को ये अवरुद्ध करते हैं। पाद-

होना चाहिये कि एक सतुलित और सुव्यवस्थित स्थापना प्रस्तुत हो सके। इसके अभाव मे अनुसधान के तथ्य बिखरे और विमश एव निष्कष असम्बद्ध दिखायी पडते है। अनुसधान की अन्तर्सगति और कलात्मक व्यक्तित्व के लिये विषय का सुचिंतित नियोजन परम आवश्यक है।

(४) **ताथ्यिक ईमानदारी**—तथ्यो के सग्रह और उपयोग दोनो मे अनुसधान-कर्ता को बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है। यथातथ्य अनुसधान की प्राथमिक आवश्यकता है। तथ्य अपने वास्तविक और शुद्ध रूप मे प्रयुक्त होना चाहिये। लेखक के पूर्वाग्रह के कारण अपने पूव निश्चित विचारो को पुष्ट करने के लिये उसमे किसी प्रकार का परिवतन या परिवधन नही होना चाहिये। ऐसा नही होने से सम्पूर्ण स्थापना ही अशुद्ध और भ्रान्त होगी, अनुसधान के द्वारा किसी सत्य पर पहुँचना असभव होगा।

(५) **सयुक्तिक निष्कष**—प्राप्त तथ्यो के सग्रह और सयोजन से जो भी निष्कष निकाले जायें वे युक्तियुक्त होने चाहिये। ऐसा कोई भी निष्कष नही होना चाहिये, जिसके लिए पर्याप्त प्रमाण और युक्ति न हो। ऐसा भी कोई निष्कष नही होना चाहिये, जिसकी सदभ विशेष मे अपेक्षा न हो। अन्वेषक के सम्मुख यह सूक्ति सदा उपस्थित रहनी चाहिये "बिना मूल के कुछ न लिखा जाय, बिना अपेक्षा के कुछ न कहा जाय।" किसी भी प्रस्थापना का सैद्धान्तिक महत्व दो ही वस्तुओ पर अवलम्बित है—(१) ताथ्यिक ईमानदारी और (२) सयुक्तिक निष्कर्ष। कोई भी अन्वेषक इनको छोडकर आगे नही चल सकता।

लेखन की उपयु क्त मुख्य आवश्यकताओ के साथ सामान्य उपकरणो की आवश्यकता भी होती है, जिससे लेखन मे लाघव, व्याख्या, परिपुष्टि, परिसीमा आदि का समावेश होता है।

(६) **सकेत-सारिणी**—निबन्ध मे [illegible] और सदभ-ग्रन्थो का बार-बार उल्लेख करना पडता है। [illegible] होने चाहि [illegible] उल्लेख समय और कागज का व्यथ दुरुपयोग है [illegible] १६—[illegible] परा विकसित हुई। अक्षर क्रम [illegible] स्वीकृत सक्षेप पद्धति से सकेत[illegible] का निर्माण होना चाहिये और उसी का उपयोग निबन्ध मे यथास्थान करना चाहिये।

(७) **पाद टिप्पणी**—मूल स्रोत या पाठ, सदभ, पाठान्तर, व्याख्या अथवा अन्य कोई आवश्यक सूचना पाद टिप्पणी मे दी जाती है। निबन्ध के बीच मे देने से, आवश्यक होने पर भी, उसके प्रवाह को ये अवरुद्ध करते हैं। पाद-

टिप्पणी की दो पद्धतियाँ हैं—(१) पृष्ठ के नीचे, अथवा (२) अध्याय के अन्त मे। सर्वाधिक प्रचलित प्रथा पाद-टिप्पणियो को प्रति पृष्ठ के नीचे देना है, जिससे पाठक तुरन्त उनको देख सके। अध्याय के अन्त मे टिप्पणियो को रखने से अधिकाश पाठक प्रमाद अथवा आलस्यवश उन्हे पढते ही नही। हाँ, इस पद्धति से मुद्रण की सुविधा होती है। पृष्ठगत पाद टिप्पणियो मे क्रम सख्या प्राय प्रति पृष्ठ की अलग देते हैं, परन्तु पूरे अध्याय की क्रम सख्या क्रमबद्ध देने की प्रथा भी है। अन्य निबन्ध अथवा ग्रथ की अपेक्षा अनुसधान मे पाद-टिप्पणियो की आवश्यकता अधिक पडती है, क्योकि प्रत्येक उक्ति अथवा निष्कर्ष के लिये प्रमाण देना अनिवाय है।

(८) **ध्वनि चिह्न**—दूसरे भाषा की ऐसी ध्वनियो को जो अपनी भाषा मे नही मिलती है, ठीक-ठीक व्यक्त करने के लिये नये ध्वनि-चिह्नो का निर्माण और प्रयोग करना पडता है। अपनी भाषा मे भी कई ध्वनियाँ व्यवहार मे प्रयुक्त होती हैं, किन्तु लिपि मे उनके लिये चिह्न नही होते। शास्त्रीय अथवा वैज्ञानिक लेखन मे इनके लिये भी चिह्न बनाने पडते है। रोमन लेख-पद्धति मे इसका काफी विकास हुआ। नागराक्षर अपने उच्चारण की दृष्टि से वैज्ञानिक हैं और अधिकतम ध्वनियो को व्यक्त भी करते हैं, कि तु विविध भाषाओ मे प्रयुक्त होने वाली सभी ध्वनियो को व्यक्त करने के लिये ये भी अपूर्ण हैं। अत नवीन एव अतिरिक्त ध्वनि-चिह्नो की नागरी लिपि-पद्धति मे भी आवश्यकता है।

(९) **लाक्षणिक एव पारिभाषिक शब्द**—प्रत्येक शास्त्र के अपने लाक्षणिक अथवा पारिभाषिक शब्द होते है। प्रत्येक निबन्ध अथवा प्रस्थापना मे इन शब्दो का प्रयोग करना पडता है। प्रत्येक निब ध के विषय मे अथवा व्यक्तिगत अनुसधानकर्ता की दृष्टि से नये पारिभाषिक शब्द भी प्रयुक्त होते हैं। अत यह आवश्यक और उपयोगी होता है कि ऐसी लाक्षणिक एव पारिभाषिक शब्दावली को ग्रन्थ के अन्त मे अर्थ के साथ दे दिया जाय जिसका उपयोग पाठक कर सकें।

(१०) **परिशिष्ट एव अवतरण**—विमर्श या टिप्पणी जिनका अशत उपयोग निबन्ध के बीच मे हुआ हो, किन्तु स्थानाभाव या निबन्ध के प्रवाह मे अवरोध उत्पन्न करने के कारण पूरे न दिये गये हो, पुन ग्रथ के अन्त मे परिशिष्ट (विशिष्ट छूटे हुये अश) के रूप मे दे दिये जाते हैं। इनकी सख्या और विस्तार का प्रश्न निबन्ध के स्वरूप और आवश्यकता पर अवलम्बित है।

(११) आधार ग्रथ सूची—प्रत्येक निबन्ध आधार-ग्रथो पर अवलम्बित है, कन्तु परिमिनाथ और परिसीमित होता है। उसकी प्रामाणिकता की परीक्षा और बृहत्तर रूप के दर्शन के लिये आधार ग्रथो का अवलोकन आवश्यक है। यह सूची केवल शोभार्थ नही, अपितु निबन्ध का एक आवश्यक अग है। आधार-ग्रथो के मोटे तौर पर दो विभाग होने चाहिये—(१) मूल ग्रथ और (२) सामान्य ग्रथ। इनके भी कई उपविभाग सुविधा के लिये किय जा सकते हैं, यह सूची ग्रन्थ अथवा लेखक के नाम के अक्षर-क्रम से प्रस्तुत होनी चाहिये।

(१२) अनुक्रमणिका—निबन्ध के बीच मे नाम, शब्द, लेखक, ग्रन्थ, विषय आदि कहाँ और किस सदर्भ मे आये है, इसकी जानकारी के लिये अनुक्रमणिका आवश्यक है। प्रत्येक पाठक प्रत्येक समय सम्पूर्ण निबन्ध को नही पढना चाहता। वह अपने तात्कालिक उपयोग की वस्तु को निबन्ध मे तुरन्त देखना चाहता है। इस कार्य के लिए अनुक्रमणिका उसकी सहायता करती है। अत कोई भी महत्व का शास्त्रीय ग्रन्थ अनुक्रमणिका के बिना पूरा नही समझा जाता। अनुक्रमणिका की एक स्वीकृत वैज्ञानिक पद्धति है, जिसके अनुसार उसे तैयार करना चाहिये।

(१८) अन्तिम चेतावनी

अनुसधान सम्बन्धी निबन्ध प्रस्तुत करते समय कुछ बातें बराबर स्मरण रखनी चाहिये। पहली बात यह है कि अनुसधान की प्रक्रिया सामान्य ग्रन्थ-लेखन से भिन्न है। सामान्य ग्रन्थ-लेखन मे लेखक को स्वतत्रता अधिक है, अनुसधान मे वह कई नियमो से प्रतिबद्ध है। सामान्य ग्रन्थ-लेखन मे प्रसिद्ध तथ्यो के सयोजन से भी काम चल सकता है और लेखक स्वतन्त्रता से अपना परिणाम प्रस्तुत कर सकता है। उसे परीक्षा का भय नही, यद्यपि समालोचना की आशका रहती है। अनुसधान मे नवीन तथ्यो की खोज का प्रमुख स्थान है, कम से कम प्रसिद्ध तथ्यो की नवीन व्याख्या तो अवश्य होनी चाहिये। इसी आधार पर अनुसधान मे विषय-प्रस्थापना की जाती है। यह बात ध्यान रखने की है कि अनुसधान का प्रतिपाद्य "प्रस्थापना" है, "सिद्धान्त" नहीं। स्थापना का जब तक और व्यापक परीक्षण और पर्याप्त समय तक बहुमान्य विद्वानों द्वारा स्वीकरण नही होता तब तक वह "सिद्धान्त" का पद नही ग्रहण कर सकती। इसलिए किसी भी अनुसधानकर्ता को सिद्धान्त का पूर्वाग्रह नही होना चाहिये। उसके लिये सफल प्रस्थापना ही पर्याप्त है। सिद्धान्त का पूर्वाग्रह होने से वह

रूढ सघर्ष मे पड जाता है और उसके भावी अनुसधान का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। वास्तव मे अनुसधान सत्य का माग है, उसकी अतिम मजिल नही। सत्य के महान् एव लम्बे तीर्थाटन मे अप्रमाद तथा निरहकार होकर यात्रा करनी चाहिये। सत्यान्वेषण के दूसरे यात्री भी उस माग पर चल सके, इसका बराबर ध्यान रखना चाहिये। प्रस्थापना से दूसरो के लिये मार्ग का एक नया द्वार खुल जाय और वह सदा उन्मुक्त रहे, यही अन्वेषक की साधना होनी चाहिये।

परिशिष्ट--(१)

हिन्दी अनुसंधान गोष्ठी

दिल्ली विश्वविद्यालय

(१०-५-५६—२२-५-५६)

गत दो दशको मे हिन्दी अनुसधान के क्षेत्र मे बडी द्रुत प्रगति हुई है। इस समय देश के बीस से अधिक विश्वविद्यालयो मे हिन्दी भाषा और साहित्य पर अनुसधान हो रहा है। प्राय ढाई सौ शोध प्रबन्ध अब तक स्वीकृत हो चुके हैं और इस समय लगभग ४०० अनुसधाता पी एच० डी० अथवा डी० लिट्० की उपाधि के लिए शोध-कार्य कर रहे है। अत यह आवश्यक हो गया है कि —

(१) विभिन्न विश्वविद्यालयो के शोध-काय मे सामजस्य स्थापित करने के लिए,

(२) उपयुक्तता, प्रादेशिक परिस्थितियो तथा उपलब्ध साधनो के आधार पर हिन्दी अनुसधान की एक व्यवस्थित योजना तैयार करने के लिए,

(३) अनुसधाताओ की समस्याओ एव कठिनाइयो का समाधान करने के लिए,

(४) अनुसधान की प्रविधि एव प्रक्रिया की प्रशिक्षा देने के लिए,

—उचित कार्यवाही की जाये।

स्पष्ट है कि इनमे से पहले दो उद्देश्यो को पूरा करने के लिए अधिक समय एव साधनो की आवश्यकता है। अत दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग ने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की कृपापूर्ण सहमति और सहयोग से उपर्युक्त

सूत्रो मे से पिछले दो पर विशेष ध्यान रखते हुए १० से २२ मई, १९५९ तक दिल्ली मे एक अन्तर्विश्वविद्यालय हिन्दी अनुसधान गोष्ठी का आयोजन किया। गोष्ठी का उद्घाटन विश्वविद्यालय के कला-सकाय (आर्ट्स फैकल्टी) भवन मे सूचना और प्रसारण मन्त्री डा० बालकृष्ण विश्वनाथ केसकर ने किया। उद्घाटन समारोह के सभापति दिल्ली विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० वी० के० आर० वी० राव थे। गोष्ठी का उद्घाटन करते हुए डा० केसकर ने अनुसधान-कार्य के महत्व एव साहित्य की उन्नति मे उसके योग पर प्रकाश डालते हुए गोष्ठी की सफलता की कामना की। डा० राव ने अपने अध्यक्षीय भाषण मे गोष्ठी मे सम्मिलित होने वाले विविध विश्वविद्यालयो के अनुसधाताओ का स्वागत किया और हिन्दी मे अनुसधान कार्य को आदर्श रूप देने के लिए विविध विश्वविद्यालयो की अनुसधान विषयक आयोजनाओ मे सामजस्य स्थापित करने की आवश्यकता प्रतिपादित की। आयोजन की एक विशिष्टता थी शोध-ग्रन्थो की प्रदर्शनी, जिसका उद्घाटन राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने किया। इसमे प्राय १८० प्रकाशित अप्रकाशित शोध प्रबन्धो का प्रदर्शन किया गया।

गोष्ठी मे हिन्दी मे अनुसधान के विभिन्न पक्षो तथा समस्याओ पर १३ अभिभाषण हुए। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी तथा डा० राजबली पाडेय कारण-वश गोष्ठी मे नही पधार सके—अत उनके भाषण गोष्ठी मे पढ़कर सुनाए गये। कार्यक्रम का विवरण इस प्रकार है —

डा० वी० के० आर० वी० राव	—	अनुसधान का स्वरूप तथा हिन्दी मे अनुसधान का आदर्श
डा० हरवशलाल शर्मा	—	हिन्दी अनुसधान की प्रगति (प्राचीन एव मध्यकालीन साहित्य के विषय मे)
डा० सत्येन्द्र	—	हिन्दी अनुसधान की प्रगति (आधुनिक साहित्य के विषय मे)
डा० दीनदयालु गुप्त	—	अनुसधान के प्रकार
प्रो० नन्ददुलारे वाजपेयी डा० भगीरथ मिश्र	—	विषय निर्वाचन
डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी	—	सामग्री-सकलन
डा० विश्वनाथ प्रसाद	—	भाषावैज्ञानिक अनुसधान
डा० ताराचन्द	—	ऐतिहासिक अनुसधान
डा० माताप्रसाद गुप्त	—	पाठानुसधान

डा० सूर्यकान्त } — अनुसधान की प्रविधि और
डा० राजबली पाडेय } प्रक्रिया

डा० नगेन्द्र — अनुसधान और आलोचना

प्रतिदिन अभिभाषण के पश्चात् अपराह्न मे परिसवाद होना था, जिसमे सदस्य लिखित प्रश्न करते थे और वक्ता सविस्तर उनके उत्तर दिया करते थे। इस प्रकार शोधार्थियो तथा विद्वान् वक्ताओ के बीच प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित हो जाता था और अनेक जटिल समस्याएँ सहज ही सुलझ जाती थी। इन परिसवाद-सत्रो का सभापतित्व डा० सिद्धेश्वर वर्मा, डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, श्री रमाप्रसन्न नायक आई० सी० एस०, श्री जगदीशचन्द्र माथुर आई० सी० एस०, डा० यदुवशी, प्रो० मोहनवल्लभ पन्त, डा० इन्द्रनाथ मदान, डा० हरिवशराय बच्चन तथा प्रो० कपिलदेवनारायण सिंह आदि विद्वानो ने किया।

देश के बीस विश्वविद्यालयो से लगभग ३० प्रतिनिधियो के अतिरिक्त १२७ विधिवत् नामाकित सदस्य तथा १२० प्रेक्षक गोष्ठी मे भाग लेने आये। गोष्ठी मे जिन विश्वविद्यालयो का प्रतिनिधित्व हुआ उनके नाम इस प्रकार हैं—अलीगढ, आगरा, वल्लभ विद्यापीठ, आनन्द, इलाहाबाद, उस्मानिया, काश्मीर, केरल, गोरखपुर, गुजरात, दिल्ली, पजाब, पटना, बडौदा, बम्बई, बिहार, मराठवाडा, राजस्थान, लखनऊ, विक्रम तथा विश्व भारती। गोष्ठी मे सदस्यो की एक उपस्थिति-पजिका रखी गई थी। जिन सदस्यो ने अभिभाषण तथा परिसवादो मे नियमानुसार भाग लिया उन्हे गोष्ठी के अन्त मे प्रमाण-पत्र पाने का अधिकारी घोषित किया गया।

गोष्ठी का वातावरण आद्यन्त बौद्धिक बना रहा। प्रतिदिन प्राय १५० से २०० तक की सख्या मे गम्भीर अनुसधाता बडे सजग भाव से कार्य-क्रम मे भाग लेते थे। कार्यक्रम अत्यन्त सुगठित एव व्यस्त था १३ मुख्य अभिभाषण हुए, ८ भाषण विभिन्न सभापतियो द्वारा दिए गए तथा प्राय २०० प्रश्नो के सविस्तर उत्तर दिये गये। कुल मिलाकर २४ बैठकें हुई जिनमे लगभग ५० घटे काम हुआ। यद्यपि प्रस्तुत गोष्ठी देश भर मे अपनी तरह की पहली आयोजना थी फिर भी उसे बहुत सफलता प्राप्त हुई। गोष्ठी मे भाग लेने वाले वक्ता, सभापति, विश्वविद्यालय-प्रतिनिधि, नामाकित अनुसधाता तथा प्रेक्षक—सभी इस बात पर एकमत थे कि गोष्ठी को 'ग्रीष्म शोध प्रतिष्ठान' के रूप मे स्थायित्व प्राप्त करना चाहिए और उनके नियमित वार्षिक अधिवेशन होने चाहिए।

अनुसधान-गोष्ठी का समापन-समारोह राष्ट्रपति-भवन मे महामान्य राष्ट्र-

पति महोदय के आशीर्वाद के साथ सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर राष्ट्रपति जी ने अनुग्रहपूवक अधिकारी सदस्यो को प्रमाण पत्र भी प्रदान किए। अन्त मे गोष्ठी के सयोजक डा० नगेन्द्र ने गोष्ठी मे भाग लेने वाले वक्ताओ, सभापतियो, विश्वविद्यालय के प्रतिनिधियो, नामाकित अनुसधाताओ तथा प्रेक्षको का धन्यवाद किया, जिनके सहयोग से गोष्ठी का यह आयोजन सफल रहा साथ ही विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग के अधिकारियो एव दिल्ली विश्वविद्यालय और उससे सम्बद्ध कॉलिजो के हिदी प्राध्यापको को उनके सहयोग के लिए साधुवाद देते हुए गोष्ठी का कायक्रम समाप्त किया।

गोविन्दराम शर्मा

१५ मई, १९६०

मत्री, हिन्दी अनुसधान गोष्ठी
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

परिशिष्ट—(२)

हिन्दी-अनुसंधान-गोष्ठी

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

[१९५९-६०]

कार्य-समिति —

संरक्षक डा० वी० के० आर० वी० राव,
उपकुलपति, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

संयोजक डा० नगेन्द्र, आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, अधिष्ठाता, कला-संकाय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

संयुक्त संयोजक डा० (श्रीमती) सावित्री सिन्हा, रीडर, हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
डा० विजयेन्द्र स्नातक, रीडर, हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

प्रधान मंत्री डा० गोविन्दराम शर्मा, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
किरोड़ीमल कॉलेज, दिल्ली।

कोषाध्यक्ष डा० विमलकुमार जैन, दिल्ली कॉलेज, दिल्ली।

विशेष सदस्य

डा० दशरथ ओझा,
अध्यक्ष हिन्दी विभाग, हिन्दू कॉलेज, दिल्ली।

डा० ओम्प्रकाश
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
हंसराज कॉलेज, दिल्ली।

डा० उदयभानुसिंह
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

डा० विश्वम्भरनाथ भट्ट
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
दिल्ली कॉलेज, दिल्ली।

श्री भारतभूषण सरोज
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
रामजस कॉलेज, दिल्ली।

श्रीमती शाति माथुर
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
मिराडा हाउस
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

श्री महेन्द्र चतुर्वेदी
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

विभिन्न गोष्ठियो मे हिन्दी-विभाग के निम्नलिखित प्राध्यापको ने आयोजक और प्रतिवेदक का काय-सम्पादन किया —

१ डा० दशरथ ओझा
२ डा० ओमप्रकाश
३ डा० उदयभानुसिंह
४ डा० रामस्वरूप शास्त्री
५ डा० हरभजनसिंह
६ डा० सत्यदेव चौधरी
७ श्री बलराज महाजन
८ डा० मनमोहन गौतम
९ डा० भरतसिंह उपाध्याय
१० डा० उमाकान्त गोयल
११ डा० भोलानाथ तिवारी
१२ डा० सुरेशचन्द्र गुप्त

निम्नलिखित बन्धुओ ने गोष्ठी के निमित्त स्थानीय प्रतिनिधि का कार्य किया—

कलकत्ता—श्री कल्याणमल लोढा, **पटना**—श्री नलिनविलोचन शर्मा, **वाराणसी**—डा० श्रीकृष्ण लाल, **प्रयाग**—डा० हरदेव बाहरी, डा० जगदीश गुप्त, श्री उमाशकर शुक्ल, **गोरखपुर**—डा० गोपीनाथ तिवारी, **लखनऊ**—डा० भागीरथ मिश्र, डा० त्रिलोकीनाथ दीक्षित, **कानपुर**—डा० प्रेमनारायण शुक्ल, श्री विश्वनाथ गौड, **आगरा**—डा० टीकमसिंह तोमर, डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', **अलीगढ़**—डा० विजयपालसिंह, डा० मनोहरलाल गौड, **खुर्जा**—डा० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना, **नैनीताल**—डा० हरिवश कोछड, **चण्डीगढ़**—डा०

सरनदास भणोन, जालन्धर—कुमारी ए० कमला (डी० ए० वी० कालिज), अम्बाला—डा० ससारचन्द्र, पटियाला—डा० किरणचन्द्र शर्मा, बरेली—डा० गुणानन्द जुयाल, सागर—डा० कमलाकान्त पाठक, देहरादून—डा० नित्यानन्द शर्मा, जबलपुर—श्री रामेश्वर शुक्ल 'अचल', जयपुर—डा० सोमनाथ गुप्त, डा० सरनामसिंह, पिलानी—डा० कन्हैयालाल सहल, मुरादाबाद—डा० गोविन्द त्रिगुणायत ।